मनोबोध

समर्थ रामदास कृत 'मनाचे श्लोक' कथारूप में

मनोबोध

(संत रामदास कृत् 'मनाचे श्लोक' कथारूप में)

121

मनोबोध

(संत रामदास कृत् 'मनाचे श्लोक' कथारूप में)

लेखक

स्व. सौ. वसुन्धरा सातवळेकर

अनुवादक

सौ. मीरा नांदगांवकर

प्रकाशक

अर्चना प्रकाशन

१७-बी, दीनदयाल परिसर, ई-२, महावीर नगर,

भोपाल - ४६२०१६, दूरभाष : ५६६८६५

प्रकाशक

अर्चना प्रकाशन

१७-बी, दीनदयाल परिसर

ई-२, महावीर नगर, भोपाल - ४६२०१६.

दूरभाष : ५६६८६५

● **इकहत्तरवां पुष्प**

संस्करण

प्रथम संस्करण, श्री दत्त जयंती

मार्गशीर्ष शुक्ल १५, विक्रम संवत् २०५४, युगाब्द ५०९९

१३ दिसम्बर १९९७

सर्वाधिकार

अर्चना प्रकाशन न्यास

मूल्य - पच्चीस रुपये

अक्षर संयोजन

सिंहल कन्सलटेक इंजीनियरिंग प्राइवेट लिमिटेड, भोपाल

मुद्रक- बेल प्रिंटिर्स, भोपाल

समर्पण

यह अनुवादित कृति मराठी के मूर्धन्य
लेखक
श्री गोपाळ नीळकण्ठ दाण्डेकर
को
सविनय समर्पित -

सौ. मीरा नांदगांवकर

प्रकाशकीय

आज हम आपके लिये ऐसा उपहार प्रस्तुत करने जा रहे हैं जो आपको ऐहिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में उन्नति करने में सहायक होगा। जीवन में केवल ऐहिक उन्नति पर्याप्त नहीं है और न ही आध्यात्मिक उन्नति पर्याप्त है। आवश्यक है दोनों का सामञ्जस्य। केवल भक्ति नहीं और न ही केवल शक्ति। भक्ति और शक्ति दोनों चाहिये। संत तुकाराम महाराज कहते हैं:-

''मऊ मेणाहूनि आम्ही विष्णुदास,
कठिण वज्रास भेदूं ऐसे,
भले त्यासी देऊ कांसेचि लंगोटी
नाठाळाचे माथा हाणू काठी''

हम भक्त मोम से भी कोमल हैं किन्तु बड़ी बड़ी चट्टानों को क्षणों में तोड़ डालेंगे। हमें कोई सज्जन मिलता है तो उसे हम अपनी लंगोटी भी निकाल कर दे देंगे और अगर कोई दुर्जन, दुष्ट मिले तो लाठी से उसका सिर फोड़ देंगे।

समर्थ रामदास स्वामी ने कहा

''समर्थाचिया सेवका वक्र पाहे
असा सर्व भू-मंडळी कोण आहे ?''

इस पृथ्वीतल पर ऐसा कौन व्यक्ति है जो सामर्थ्यवान, शक्तिशाली व्यक्ति के सेवक की ओर तिरछी नजर से देख ले। संक्षेप में आवश्यकता इस बात की है कि भक्ति करे और साथ ही शक्ति भी संपादन करें।

इस देश पर मुगलों ने आक्रमण कर हमें गुलाम बना दिया था । बहुत अत्याचार होते थे। लोगों का जीवन असुरक्षित था । महिलाओं का स्त्रीत्व असुरक्षित था। धर्मान्तरण के लिये जोर, जबरदस्ती, कत्लेआम होता था। उस समय अपने यहां सन्त परम्परा की एक बहुत बड़ी माला निर्मित हुई। उत्तर भारत में महात्मा तुलसीदास, स्वामी रामानन्द, कबीर, रैदास, आदि हुए। इन्होंने सर्व जनमानस को भक्ति रस का पान कराया और आस्तिक भाव की जागृति कराई।

महाराष्ट्र में भी संतों की एक लंबी श्रृंखला का निर्माण हुआ जिसमें, ज्ञानेश्वर, एकनाथ, नामदेव, तुकाराम, रामदास उल्लेखनीय है। इन्होंने समाज को भक्तिरस से ओतप्रोत कर दिया।

साथ ही आस्तिक भाव का भी स्मरण कराया। समर्थ रामदास ने "जय जय रघुवीर समर्थ" के घोष के साथ समाज में महाशक्ति का विद्युत संचार करा दिया था। सारे देश में भ्रमण किया। भक्ति शक्ति का प्रचार किया। स्थान-स्थान पर बजरंगबली के मंदिर बनवाये-शक्ति सम्पादन करने के लिये अखाड़े बनवाये. इसी पार्श्वभूमि में शिवाजी महाराज को हिन्दू-पद-पातशाही के निर्माण में बहुत बड़ी सहायता हुई।

समर्थ रामदास स्वामी द्वारा लिखित "मनाचे श्लोक" लोगों के मन में पैठ गये और वे राम के भक्त तो हो गये और अपने देश को परकीय राज्य की गुलामी से, उनके जोर जुलुमों से मुक्ति दिलाने के लिये अपना सर्वस्व अर्पण करने के लिये सिद्ध हो गये। शिवाजी महाराज को इनका सहयोग मिला।

स्व. सौ. वसुंधराताई सातवळेकर जी ने इन श्लोकों पर मनोरंजक सामयिक कहानियों की जोड़ देकर इन्हें विशद किया है "गोष्टीरूप मनाचे श्लोक" जो मूलत: मराठी में है, की कथाएँ अत्यन्त सरल शब्दों में रची गयी है। साथ ही दृष्टांत भी दिये हैं। यह पुस्तक कहानी रूप में होने से विशेषत: बाल संस्कार केन्द्रों में बहुत लोकप्रिय सिद्ध हुई है।

हिन्दी भाषी क्षेत्र में भी इसका लाभ मिले इस उद्देश्य से इन कहानियों और दृष्टांतों का हिन्दी में अनुवाद किया है सौ. मीरा नांदगांवकर ने। श्री प्र.ग. सहस्त्रबुद्धे ने मूल मराठी श्लोकों का हिन्दी में भावानुवाद उसी छंद में किया है जिस छंद में मराठी के मूल श्लोक हैं। इस महत्वपूर्ण पुस्तक को प्रकाशन योग्य बनाने में हमें सम्माननीय डॉ. मदन मोहन दुबे, एम.ए. पी.एच.डी. की विशेष सहायता प्राप्त हुई है। आप हिन्दी तथा मराठी दोनों भाषाओं पर प्रभुत्व रखते हैं, तथा मध्य प्रदेश के एक ख्यातनाम शिक्षाविद् है। उनके हम बहुत आभारी है।

हम आभारी है शिल्पा प्रकाशन, पुणे के श्री भालचन्द्र जी सातवळेकर के जिन्होंने हमें मूल मराठी पुस्तक "गोष्टीरूप मनाचे श्लोक" का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करने की अनुमति प्रदान की है।

इस ग्रंथ ज्योत को प्रज्वलितकर आप मन का अंधकार दूर करेंगें और आप में आत्मशक्ति का प्रादुर्भाव होगा ऐसा हमारा दृढ़ विश्वास है।

इस पुस्तक को आप भी पढ़ेंगे, अपने मित्रों को भी पढ़ने को देंगे। हम आपके सुझावों का भी स्वागत करेंगे और इसका उपयोग हम अपने आगामी संस्करण में कर सकेंगे।

प्रकाशक

प्रस्तावना

गणाधीश जो ईश है सदगुणों का ।
गुणी रूप में प्रारंभ है निर्गुणी का ॥
स्मरें रूप चारों महाशारदा के ।
चलें पंथ आकल्प श्रीराम ही के ॥
॥ जय जय रघुवीर समर्थ ॥

लगभग साढ़े तीन सौ वर्ष पूर्व की बात है। सुबह की शांत बेला में भुजंगप्रयात छंद का यह या इसी ढंग का और कोई श्लोक जब ऊंची आवाज में कहा जाता था तब सब सुनने वाले हड़बड़ाकर उठते थे और दरवाजे खोलकर घर के बाहर आते थे। वे देखते थे कि कोई अपरिचित युवा संन्यासी मधुर श्लोकगायन से सबको जगा रहा है और श्लोक के अन्त में गरज रहा है - जय जय रघुवीर समर्थ ।

उस काल में भारत वर्ष पर परदास्यकी भयावनी काली रात छाई हुई थी। रात्रि में जिस प्रकार चोर, डाकू, हिंस्र, श्वापद, भूत, प्रेत, पिशाच आदि का स्वर संचार चलता है ठीक उसी प्रकार अपने देश में मुगालशाह, निझामशाह, आदिलशाह, कुतुबशाह तथा उनके हस्तक अपने जघन्य कृत्यों से भारतीयों को संत्रस्त कर रहे थे। वे सब लूटपाट मचाते थे, गांवखेत जलाते थे, औरतों को उठा ले जाते थे तथा हिंदुओं को मुसलमान बनाते थे। जो मुसलमान बनने से इन्कार करता था उसकी गर्दन उड़ाई जाती थी। चारों और भय तथा आतंक का वातावरण था।

इसका कारण यह था कि सर्वमान्य हिंदू जन, शौर्य-धैर्यहीन, स्वार्थी, उदरपरायण तथा भीरु बन गये थे। उनका जीवन नि:सत्व बन गया था। वे अपने आदेशों को भूल गये थे। सब लोग निधर्मी तथा कुधर्मी बन गये थे। तब धर्म प्रस्थापित करने के लिये भगवान ने संत महंतों को भारत में भेजा । महाराष्ट्र पर उनकी विशेष कृपा रही। महाराष्ट्र में ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, रामदास आदि महात्माओं का आगमन हुआ। उन्होंने अलख जगाया । उन्होंने जनता को ईश्वर भक्ति का पाठ पढ़ाया। उन्होंने सामान्य जनों को शौर्य, धैर्य, त्याग, सेवा आदि का महत्व समझाया । उन्होंने ललकारा, "पशुत्व छोड़ो मनुष्य बनो" इसी के फलस्वरूप महाराष्ट्र में स्वराज्यरूप सूर्य का उदय हुआ ।

धर्मजागरण करने वाले इन संतों में स्वामी रामदास का अपना निराला स्थान है। उनका जन्म शकसंवत १५३० में चैत्र शुद्ध नवमीं को तदनुसार आंग्ल दिनांक २६ मार्च सन् १६०८

ईसवी को, महाराष्ट्र के जिला बीड़ के जांब ग्राम में हुआ। उनके कुल का नाम ठोसर था। उनकी माता का नाम राणूबाई तथा पिता का नाम सूर्याजीपंत था। रामदास का मूल नाम नारायण था। वह बाल्यकाल से ही रामभक्त था। हनुमानजी पर इस बालक की अपार श्रद्धा थी। उन दिनों में छोटी आयु में ही विवाह होते थे। जब नारायण बारह वर्ष का था तब उनकी मां ने उसके विवाह का आयोजन किया। परंतु नारायण विवाह मण्डप से भाग गया। वह सीधा नासिक पहुंचा। उसने वहां बारह वर्षों तक उग्र साधना की। अब उनका नाम रामदास हो गया। बाद में उन्होंने बारह वर्षों तक देश भर में भ्रमण किया। लोगों की हीन दीन अवस्था देख उन्हें बहुत दुख हुआ। ऐहिक तथा पारलौकिक उन्नति के लिये उन्होंने सबको रामभक्ति का पाठ पढ़ाया। ग्राम ग्राम में जाकर वे रामकथा सुनाते थे। विशेषत: वे सुंदरकांड और युद्धकांड सरस ढंग से बखानते थे। वे जनता में स्वाभिमान तथा वीरवृत्ति जगाते थे। इसीलिये छत्रपति श्री शिवाजी महाराज तथा उनके अनेक मंत्री और अमात्य समर्थ रामदास के शिष्य बन गये। रामदासजी ने राम तथा हनुमान जी के मंदिर बनवाये, व्यायाम शालाएं चलवाईं और आबालवृद्धों में वीरवृत्ति जगाई। देशभर में उन्होंने बहुत बड़ा संघटन निर्माण किया। उन्होंने अपने विचारों को तथा साधनामार्ग को ग्रंथरूप दिया। दासबोध, आत्माराम, करुणाष्टक, अभंग शतक, मनोबोध आदि उनके अनेक ग्रंथ प्रेरक तथा रोचक हैं। तीन शतक बीतने के बाद भी वे ग्रंथ आज महाराष्ट्र के घर-घर में पढ़े जाते हैं। अनेक भारतीय भाषाओं में उनके अनुवाद हुए हैं।

अपने जीवन, साहित्य तथा शिष्यों द्वारा उन्होंने संपूर्ण महाराष्ट्र में चैतन्य की नई लहर निर्माण की। शक संवत १६०३ की माघ वद्य नवमी, तदनुसार आंग्ल दिनांक ५ मार्च सन् १६८२ ईसवीं को उन्होंने इहलोकलीला समाप्त की।

उनके अजर अमर ग्रंथ रचना में छोटे से "मनाचे श्लोक" का असाधारण महत्व है। इसमें केवल दो सौ पांच भुजंगप्रयात वृत्त के श्लोक हैं। उसकी भाषा साधी, सरल, सुबोध है। परंतु उसका एक-एक श्लोक अनेक विचार रत्नों से परिपूर्ण है। "मनाचे श्लोक" का अर्थ है, मन को उपदेश, मनको उद्बोधन। मन ही तो मनुष्य है। "मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयो:" मन सुसंस्कारित होने पर मनुष्य का जीवन उन्नत होता है। उसके परिणामस्वरूप समाज और राष्ट्र वैभवशाली बनता है। रामदास के शिष्य-प्रशिष्य इन श्लोकों को कण्ठस्थ करते थे और गांव-गांव में जाकर सुनाते थे। इस बहाने आबालवृद्धों को जुटाकर वे हनुमानजी के मंदिर का निर्माण करते थे और सबसे बलोपासना करवाते थे।

आज अपने देश में "मनाचे श्लोक" पढ़ने, सुनने, मनन करने की बहुत आवश्यकता है। स्वयं रामदासजी ने समारोपात्मक अंतिम श्लोक में कहा है-

मनोबोध के श्लोक दोषोपहारी ।
तथा ज्ञान सामर्थ्य वैराग्यकारी ।।
बनोगे तपः साधनायुक्त योगी ।
कहे दास विश्वास से मुक्ति होगी।।

आज के हमारे दोषपूर्ण जीवन के लिये यह मनोबोध परम रसायन है । इसके पठन मनन चिंतन से हम दोषमुक्त हो सकते हैं और फिर से परम वैभव प्राप्त कर सकते हैं।

इस तथ्य को जानकर स्वर्गीय श्रीमती सौभाग्यवती वसुंधरा सातवळेकर बहन ने इनमें से प्रत्येक श्लोक का विवरण-विवेचन प्रस्तुत किया है। उसे रोचक बनाने हेतु उन्होंने मनोरंजक दृष्टान्त दिये हैं तथा कहानियां सुनाई हैं। स्वर्गीय सौ. वसुंधरा दीदी बरसों तक बालसंस्कार वर्ग चलाती थीं। उनका अध्यात्म प्रवण कर्तृत्वसंपन्न जीवन व वाणी बहुत प्रेरणादायी तथा प्रभावी थी। स्वर्गीय दीदी द्वारा प्रस्थापित ''ऊँकार'' ट्रस्ट द्वारा उनके देहावसान के बाद भी अनेक सेवा कार्य तथा संस्कार वर्ग भी चलाये जाते हैं। उनके द्वारा चलाये जा रहे इन संस्कार वर्गों में, संस्कारित हुये बालक व बालिकाएं बड़े होकर उनके चरित्र से प्रेरणा पाकर उनकी मृत्यु के पश्चात् भी संस्कार वर्ग चला रहे हैं। अत: मूल मराठी में लिखी यह पुस्तक इतनी लोकप्रिय हुई कि अल्पावकाश में ही उसके तीन संस्करण प्रकाशित करने पड़े। इस पुस्तक की संस्कार-क्षमता को पहिचानकर ही श्रीमती मीराबाई नांदगांवकर ने हिन्दी भाषी बाल बालिकाओं के लिए इसका हिन्दी में अनुवाद किया। वही अनुवाद यहां पर पुस्तक रूप में प्रस्तुत है। आशा है कि मराठी पुस्तक जैसी ही लोकप्रियता इसे भी प्राप्त होगी।

मैं प्रिय श्री माणिकचंद वाजपेयी उपाख्य मामाजी को धन्यवाद देता हूं जिन्होंने इस छोटे परंतु सुंदर तथा उपयोगी पुस्तक की प्रस्तावना लिखने का काम देकर मुझे सम्मानित किया है। इस निमित्त से ''मनाचे श्लोक'' रूप आनंद सरिता में अवगाहन करने का सौभाग्य उन्होंने मुझे प्रदान किया। तदर्थ मैं उनका तथा अर्चना प्रकाशन का बहुत आभारी हूं।

इस महत्वपूर्ण पुस्तक को प्रकाशन योग्य बनाने में हमें सम्माननीय डॉ. मदनमोहन दुबे एम.ए., पी.एच.डी. की विशेष सहायता प्राप्त हुई है। आप हिन्दी तथा मराठी दोनों भाषाओं पर प्रभुत्व रखते हैं, तथा मध्यप्रदेश के एक जाने माने शिक्षा-विद है। उनके हम बहुत आभारी हैं।

प्र.ग. सहस्त्रबुद्धे

अनुवादिका के दो शब्द

प्रस्तुत कहानियां युक्त पुस्तक मराठी के महान संत समर्थ गुरु रामदास द्वारा रचित ''मनाचे श्लोक'' अर्थात् ''मनोबोधसार'' यानी ''मन की वाणी'' या मन को उपदेश के आधार पर लिखा गया है। संत रामदास का जीवन बड़ा ही क्रांतिकारी एवं तेजस्वी था। वे किसी भी प्रकार के अन्याय अथवा अत्याचार को सहन नहीं करते थे। वे लोगों को आत्मसम्मानपूर्वक जीने की प्रेरणा देते थे, उपदेश देते थे। महाराष्ट्र की संत परंपरा को वे एक ऐसे उच्च स्तर पर ले गए जहां अंध श्रद्धाओं, अनिष्ट परंपराओं आदि को कहीं कोई स्थान नहीं है। शिवाजी महाराज के वे गुरु थे। वे एक दृष्टा योगी थे। उस समय की राजनैतिक स्थिति में लोगों का मनोधैर्य बढ़ाने वाले, राष्ट्रप्रेम तथा स्वधर्म को बढ़ाने वाले वे संत श्रेष्ठ सिद्ध हुए हैं।

उनके द्वारा रचित ''मन की वाणी'' हमें प्रतिदिन के जीवन में आचरण में लाए जाने वाले छोटे छोटे परन्तु महत्वपूर्ण तथा परम आवश्यक नियमों को सहज रूप से प्रस्तुत करती है। महाराष्ट्र में यह मन की वाणी घर-घर में पढ़ी जाती है। स्कूलों में पढ़ाई जाती है। शायद ही ऐसे बिरले परिवार होंगे जो ''मन की वाणी'' से अपरिचित रहे होंगे।

स्वर्गीय पूज्य सौ. वसुंधरा सातवळेकर जी ने इस मानस बोध को अपनी पुस्तक ''मनोबोध'' में मनोरंजक कहानियों की जोड़ देकर विशद किया है। अत्यंत सरल शब्दों में प्रत्येक कथा रची गई है। सभी धर्मों, पंथों तथा सम्प्रदायों के ज्ञानी पुरुषों के जीवन में घटित कथाओं तथा घटनाओं का इन कहानियों में समावेश किया गया है। मुझे इस उद्‌बोधक ग्रंथ का हिन्दी में अनुवाद करने का अवसर मिला जिसे मैं परम सौभाग्य समझती हूं। आशा है पाठक गण इस पुस्तक को सानंद, सस्नेह अपनायेंगे।

-मीरा नांदगांवकर

मनोबोध

गणाधीश जो ईश है सद्गुणों का ।
गुणी रूप प्रारंभ है निर्गुणी का ॥
स्मरे रूप चारों महाशारदा के ।
चलें पंथ आकल्प श्रीराम ही के ॥१॥

वह रमणीय संध्या थी। बालक गणेश तथा उनके जेष्ठ भ्राता कार्तिकेय आपस में दौड़ने की होड़ लगा कर भाग रहे थे। यह फैसला नहीं हो रहा था कि अधिक तेज कौन है। उसी समय भगवान शंकर वहां पधारे और बोले, ''बालको, ऐसी होड़ किस काम की? इससे तो कहीं अच्छा यह होगा कि तुम दोनों समूची पृथ्वी की प्रदक्षिणा कर आओ । जो इस जगह पर पहले पहुंचेगा, वही तेज घोषित होगा।'' पिता की बात दोनों बालकों ने मान ली। कार्तिकेय तुरंत पृथ्वी प्रदक्षिणा के लिये निकल गए परन्तु बालक गणेश ने अपनी माता पार्वती की प्रदक्षिणा की और कार्तिकेय की बाट जोहने लगे। जब कार्तिकेय लौट कर आए तब वहां गणेश को देख कर आश्चर्यचकित रह गए। तब गणेश ने उन्हें कहा, ''मैंने पृथ्वी प्रदक्षिणा के ध्येय की पूर्ति, आदिशक्ति माता पार्वती की प्रदक्षिणा से कर ली है। मैं उनकी शरण में चला, गया हूं और इस प्रकार से मैंने अपने साध्य को प्राप्त कर लिया है।''

श्री समर्थ रामदासजी कहते हैं, ''शक्ति देवता की शरण में जाने पर ही ध्येयपूर्ति होगी। अन्यथा नहीं।''

तात्पर्य :- श्री गणेश तो बुद्धिदाता हैं परन्तु अपने ध्येय की पूर्ति के लिये उन्हें भी शक्ति माता की शरण में जाना पड़ा था। अतः इन दोनों को श्री समर्थ प्रथम वंदन करते हैं।

✸ ✸ ✸ ✸ ✸ ✸

सुनो चित्त हे भक्ति का पंथ धारो
हरिप्राप्ति साधो स्वयं को उबारो
कहें जो सभी निंद्य वो छोड़ देना
कहें जो सभी वंद्य को जोड़ लेना ॥ २॥

गहन रात्रि का समय था और संत नामदेव महाराज एक निर्जन राह से अकेले जा रहे थे। अचानक उनके सामने एक भयानक, डरावना राक्षस आ खड़ा हुआ। वह उन्हें डराने लगा परन्तु नामदेव महाराज जरा भी विचलित नहीं हुए और न हीं उन्हें उस राक्षस से डर लगा। उन्हें उस राक्षस में श्री हरि के दर्शन हो रहे थे। उनके मन में यह दृढ़ विश्वास था कि प्राणि मात्र में श्रीहरि बसते हैं और इस समय राक्षस के रूप में साक्षात भगवान उन्हें दर्शन देने आए हैं।

श्री समर्थ कहते हैं, ''भक्ति के, सरल परन्तु गहरे मार्ग का अनुसरण कर सज्जनों को अपने अंतर में स्थित ईश्वर के दर्शन, स्वयं ही करने चाहिये।''

तात्पर्य :- भक्तिमार्ग की पूर्ति, सज्जनों- दुर्जनों में तथा सर्वत्र ईश्वर के अस्तित्व के दर्शनों में है। यही सहज ईश दर्शन है।

✸ ✸ ✸ ✸ ✸ ✸

एक गांव में कंचन सेठ नामक एक साहूकार रहा करता था। वह बड़ा ही धूर्त और बेईमान था। कई बुरे मार्गों का अवलंबन कर, सीधे सादे लोगों को बेवकूफ बना कर उसने बहुत सारी सम्पत्ति जुटाई थी। कदाचित पिछले जन्म के संस्कारों के फलस्वरूप एक दिन उसे अपने कुकर्मों पर पश्चात्ताप होने लगा। उसकी मन:शांति पूर्णतया नष्ट हो गई। अपने कुकर्मों की आग में वह जलने लगा।

उन दिनों उस गांव में भगवान बुद्ध का आगमन हुआ था। सेठ ने सोचा कि अपने पाप कर्मों से छुटकारा पाने के लिये मुझे भगवान बुद्ध के प्रवचनों को सुनना चाहिये। वह प्रतिदिन उनके प्रवचन सुनने जाने लगा। परिणाम स्वरूप उसके विचार तथा उसका आचरण बुद्धमय हो गये। अब उसके मन में सद्भावनाओं की जागृति हुई।

एक दिन वह किसी काम से एक दूसरे गांव गया था। वहां उसे बहुत सारी बंजर जमीन दिखाई दी। उसने मन ही मन यह तय कर लिया कि इस जमीन को खरीद कर उस पर ऐसा मंदिर बनवाया जाय जिसमें भगवान बुद्ध के विचारों तथा कार्यों को मूर्त रूप दिया जा सके। सेठ वहां के राजा के पास ज़मीन खरीदने हेतु गया। उसकी ज़मीन लेने में गहरी दिलचस्पी को राजा ने ताड़ लिया और उस ज़मीन के बदले उससे एक मन सोने की मांग की। अपनी

इच्छा को पूरी करने के लिये अब कंचन सेठ बहुत मेहनत से धन जोड़ने लगा। अपनी पाप की कमाई को उसने हाथ तक न लगाया। एक मन सोने के लिये उसे अपार मेहनत करनी पड़ी। सोना लेकर जब वह राजा के पास पहुंचा तब राजा ने उसे आश्चर्य से पूछा कि उसे इतनी मेहनत करने की क्या आवश्यकता थी? धन तो वैसे भी उसके पास बहुत था । तब कंचन सेठ ने जवाब दिया, यह भूमि तो भगवान बुद्ध के पवित्र चरणों के स्पर्श से पावन होने वाली है, तब सत्धर्म के बढ़ाने हेतु सम्पत्ति को उत्तम तथा पवित्र मार्गों से अर्जित करना ही मेरा परम कर्तव्य बनता है।

गलत मार्गों से धन एकत्रित करने के कारण जो सेठ बहुत निंदनीय हो गया था, वही सेठ समाज हित हेतु उचित मार्ग से धन कमाने पर लोकमान्य हो गया।

तात्पर्यः- जब मनुष्य गहन भक्ति मार्ग का अवलंबन कर लेता है तब वह कुकर्मों एवं बुरे विचारों से अपने आप हटने लगता है और समाज हित के कार्यों में मग्न हो जाता है।

* * * * * *

उषःकाल में राम का ध्यान कीजे ।
न बोलें कथा, राम का नाम लीजे ॥
सदाचार का ध्यान जो भी रखेगा ।
वही मान्य होगा वही धन्य होगा ॥३॥

वह एक अत्यंत साधारण कुब्जा स्त्री थी जिसे समाज ने तिरस्कृत कर दिया था। दुनिया तो बाहरी सुंदरता को ही बड़ा महत्व देती है, और कुब्जा के पास तो सुंदरता का अभाव ही अभाव था। काली, बद्सूरत, ठिगने कद वाली कुब्जा के पीठ में बड़ा सा कूबड़ भी था। लोग उसे देखना तक पसंद नहीं करते थे। राजमहल में उसके लिये एक ही काम था, चंदन घिसना। भोर के समय श्री हरि के नामस्मरण के साथ-साथ वह चंदन घिसा करती थी। उसके हाथ का घिसा महीन, सुगंधित चंदन अद्वितीय होता था। चंदन घिसते समय ही नहीं वरन अखंड, हरि स्मरण में उसका जीवन बीत रहा था। ईश्वर के चरणों में उसकी निष्ठा दृढ़ थी। बाहरी सौंदर्य के अभाव में उसे समाज से सदैव अवहेलना ही मिली थी।

परन्तु एक दिन मध्यरात्रि का समय .... राधा सहित सारी मथुरा नगरी गहरी नींद सोई हुई ..... जमुना का जल भी धीमी गति से बह रहा था .... सिर्फ साँय- साँय हवा की आवाज़...... और कृष्ण भक्ति में गहरी डूबी कुब्जा का चिंतन ..... अखंड चिंतन। उसने अपनी सारी सुधबुध खो दी थी .... सिर्फ एक आस ...... भगवान कृष्ण के शुभ दरस की

आस थी उसे।

अचानक उसके कानों में मुरली की मधुर तान सुनाई दी। जमुना के तीर वह सांवला खड़ा बाँसरी बजा रहा था। कुब्जा ने आँख उठा कर उसकी ओर देखा .... उसकी करुणामयी दृष्टि कुब्जा से कह रहीं थी, मैं बाँसुरी केवल तुम्हारे लिये बजा रहा हूं ..... तुम्हारी अपार श्रद्धा का यह वरदान है, ... तुम्हारे माँगे बिना ही इसे मैं तुम्हारी झोली में डाल रहा हूं ..... समाज के सामने कुब्जा हरि की प्रिया थी। भगवान ने उसकी अपार श्रद्धा को, उसकी उत्कट भक्ति को स्वीकार लिया था। धन्य है कुब्जा और उसकी महान भक्ति।

तात्पर्य:- सत् के मार्ग पर चलने वाला, ईश्वर के प्रति अपार श्रद्धा रखने वाला और भक्ति मार्ग का अवलंबन करने वाला जीव धन्य हो जाता है।

* * * * * *

कभी वासना दुष्ट, ना स्थान पावे।
कभी चित्त में, पाप बुद्धि न आवे॥
सुनो चित्तरे नीति ना छोड़ देना।
सदा सार निःसार की खोज लेना॥ ४॥

अपनी उम्र के बीस वर्षों तक ''तुकाराम'' ईश्वर भक्ति से कोसों दूर रहे। समस्त सांसारिक सुखों को उपभोग लेते रहे। बीस वर्ष के बाद भाग्य ने करवट बदली और तुकाराम का सामना अपार संकटों से होने लगा। दुर्भाग्यवश वे सांसारिक संकटों से घिर गए। तब बार-बार यह सोच कर उनका मन कचोटने लगा कि सांसारिक सुखों में लिप्त हो जाने की वजह से उन्हें अपनी कुल देवता का विस्मरण हो गया है। प्राणिमात्र से प्रेम की भावना तो दूर ही रही, धर्म तथा नीति के आचरण को भी उन्होंने त्याग दिया था। एक ही बात उनके मन में बार-बार आने उभरने लगी कि इसी की वजह से वे सांसारिक संकटों से चारों ओर से घिर गए हैं।

इस सोच का परिणाम यह रहा कि ''तुकाराम'' ने अपने हृदय के सिंहासन पर श्री विट्ठल को अधिष्ठित किया और तन मन से पूर्णतया अपने आपको ईश्वर के चरणों में रख दिया। वे रात-दिन ईश्वर की भक्ति में लीन हो गए। संसार से उनका मन उचट गया। इसका असर यह हुआ कि गृहस्थी की अवस्था और भी दयनीय होती गई। पत्नी बेचारी और परेशान। पहले ही गरीबी, तिसपर पति का गृहस्थी की ओर कोई ध्यान नहीं। जैसे तैसे बच्चों के लिये वह खाना जुटाती तो भक्ति में लीन पति महाशय किसी जरूरत मंद मांगने वाले को वह भोजन बाँट देते। पत्नी ''जिजाई'' फिर भी अपनी गृहस्थी में जुटी रही और उसे अपने पति के इस

अनोखे व्यवहार से चिढ़ होने लगी।

तुकाराम का तो मानो बाहरी संसार से नाता ही टूट गया था। वे लोक निंदा के विचार से परे ईश्वर चिंतन में लीन हो गए। उन्होंने गृहस्थी का भार श्री हरि के चरणों में सौंप दिया था। इसी आंतरिक शुद्धता, ईश्वर में दृढ़ निष्ठा एवं पूर्ण रूप से भक्तिमय आचरण के फलस्वरूप तुकाराम आगे चलकर संत तुकाराम बन गए। संतों में सर्वश्रेष्ठ जाने गए। अपनी गृहस्थी से पूर्णतया संलग्न उनकी पत्नी एक साधारण स्त्री ही बनकर रह गई।

तात्पर्यः- वासना, पापी विचार आदि से मुक्ति पाने के लिये स्वधर्मनीति का अवलंबन ही महत्वपूर्ण सिद्ध होता है।

* * * * * *

तजो चित्त, संकल्प जो पापकारी ।
धरो सत्यसंकल्प जो लाभकारी ॥
न हो कल्पना भोग के वासना की ।
न हो विकृता धारणा पातकों की ॥ ५ ॥

समर्थ रामदास का शिष्य परिवार बहुत बड़ा था। उनके शिष्यों में एक ऐसा युवक था जो बहुत ही विद्वान तथा सज्जन था। अपने गुरु पर उसकी अपार श्रद्धा थी। उसने बहुत थोड़े से समय में लोभ, मोह, मत्सर आदि विकारों पर विजय हासिल कर ली थी परन्तु ''कामवासना'' को वह अपने काबू में नहीं कर पा रहा था। अपनी इस बुराई को उसने अपने परम गुरु के पास स्वीकार भी कर लिया था। गुरु ने उसे बहुत प्यार से समझाया और उचित मार्गदर्शन भी किया परन्तु सब कुछ व्यर्थ सा रहा। किसी एक दिन शिष्यगण उसका मज़ाक बनाने लगे। समर्थ रामदास के कानों में जब यह खबर पहुंची तब वे अपने आसन से उठे और सभी के सामने उन्होंने उसकी एक मोटे डंडे से उसकी खूब पिटाई की। पिटाई इस कदर हुई कि वह कई दिनों तक बिस्तर पर रहा। इसका असर यह हुआ कि वह अपने गंदे विकार से मुक्ति पा गया।

तात्पर्यः- जो मनुष्य विकारों के आधीन हो जाता है उसकी जगहँसाई निश्चित ही होती है।

* * * * * *

न पालो कभी क्रोध जो खेदकारी ।
न राखो कभी काम नाना विकारी ॥

न हे चित्त तू दंभ को पास लाये ।
कभी मत्सरग्रस्त होने न पाये ।। ६ ।।

ईर्षा, क्रोध तथा गर्व हमेशा मनुष्य को नुकसान ही पहुंचाते रहे हैं। इन तीनों अवगुणों के कारण मनुष्य बहुत कुछ खो देता है, इसका साक्षी हमारा इतिहास है, हमारी पौराणिक कथाएँ हैं तथा हमारी नीति कथाओं में भी इसके उदाहरण हैं। उपर्युक्त तीनों अवगुणों में ही लालच नामक अवगुण की भी गणना होती है। इसके बारे में एक कहानी हैं-

प्राचीन काल में मद्र देश में एक राजा था जो बहुत अधिक लालची था। वैसे तो राजा को किसी भी वस्तु की कमी नहीं होती है परन्तु ''लोभ'' जैसे विकार के वह पूर्णतया आधीन हो गया था जिसके फलस्वरूप उसकी मति भ्रष्ट हो गई थी। उसने घोर तपश्चर्या कर ईश्वर को प्रसन्न कर लिया। जब भगवान उसके सम्मुख प्रकट हुए और उन्होंने उससे वरदान माँगने को कहा । तब उस अविचारी राजा ने वरदान माँगा कि ''मैं जिस वस्तु को भी हाथ लगाँउ, वह सोने की हो जाये।'' भगवान ने तथास्तु कहा और वे अंतर्धान हो गए। अब राजा बहुत ही प्रसन्न था। सामने ही राजा की बेटी अपनी सहेलियों के साथ खेल रही थी। प्रसन्न राजा ने बेटी को अपने पास बुला लिया और बड़े ही प्यार से उसे गोद में बैठाने के लिये उठा लिया। वह प्यारी-दुलारी राजकन्या तुरंत सोने की मूर्ति में बदल गई। अविचार से माँगा हुआ वरदान अब शाप में बदल गया था।

जो मनुष्य विकारों के आधीन हो जाता है, समाज में वह पाखण्डी बन कर विचरने से भी नहीं कतराता है। गृहस्थ भी जरूरत से अधिक भोग की लालसा न करनी चाहिये। कामवासना को अपने काबू में रखकर ''सुप्रजा'' बन कर जीवन यापन करना चाहिये। ऐसा संयत जीवन बिताने से मनुष्य को सात्विक संतोष प्रास होता है।

तात्पर्य:- अभिमान से मत्सर उपजता है-
मत्सर से उपजता है तिरस्कार-
तिरस्कार जन्म देता है क्रोध को-
इसलिये हे मन सदैव सजग रह। (दासबोध)

* * * * * *

सुनो चित्त हे धैर्य को नित्य धारे ।
सहो निंद्य वाग्बाण कैसेहि मारे ।।
स्वयं नम्रता से सदा बोल चाले ।
तभी सौख्य पाये मनः शांति पाले ।। ७ ।।

देवलाली में कांचन भाभी नामक महिला रहतीं थी। उनका रूप तथा स्वभाव भी ठीक उनके नाम जैसा ''कांचन'' ही था। वे अत्यंत ही सरलमना तथा मृदुभाषिणी महिला थी। अपने स्वभाव के कारण वे सभी पास पड़ौसियों की प्रिय थी। परन्तु उनका पुत्र ठीक उल्टे स्वभाव का था। बच्चा बहुत छोटा था। उसकी उम्र सिर्फ सात वर्ष की थी परन्तु फिर भी वह बड़ा ही उद्दण्ड था। हमेशा शैतानियां करता रहता था।

एक बार होली के त्यौहार के उपलक्ष में सारा समाज एकत्रित होकर ''होली'' का आनंद ले रहा था कि अचानक बच्चे ने कोई शैतानी कर दी। उसके पास ही एक दूसरी महिला खड़ी थी। जिनसे बच्चे की शैतानी सही न गई और उन्हें बहुत ही क्रोध हो आया। उन्होंने बच्चे को तथा उसकी माँ को बहुत गाली गलौज की। बहुत भला-बुरा कहा। हम सभी लोग यह माजरा देख कर ठगे से रह गए परन्तु कांचन भाभी इस सारे किस्से की ओर तटस्थ भाव से देखतीं रही। उन्होंने उस महिला तथा अपने बेटे की ओर ज़रा भी ध्यान न दिया। दूसरे दिन जब भाभी से पूछा तब वे बोली, ''एक तो मेरा बेटा बड़ा ही शैतान हैं और दूसरे यह कि यदि मैं झगड़े के बीच पड़ती तब तो उसे और ही बढ़ना था। मेरा बोलना आग में घी का काम कर देता। मैं इसलिये चुप रही कि, ''होली'' जैसे पावन त्यौहार को बनाए रखना जरूरी था।''

तात्पर्यः- ''आध्यात्मिक'' विचारों को बनाए रखने के लिये आसपास का वातावरण भी शुद्ध रखना आवश्यक है। विवेक को जाने तथा स्तुति एवं निंदा को समान भाव से देखें।

✸ ✸ ✸ ✸ ✸ ✸

अरे जीव तू कृत्य ऐसे करे जा ।
मरेगा तभी कीर्ति द्वारा रहे जा ।।
घिसो या जलो चंदनी काष्ट जैसे ।
भरो सज्जनों के मनों को सुखों से ।। ८ ।।

डॉ. अल्बर्ट श्वाईट्झर ने अफ्रीका के जंगल में बसे आदिवासी लोगों की आजीवन सेवा की। इस सेवा के असाधारण महत्व को जानने के लिये हमें प्रथम वहाँ की प्रतिकूलता समझनी होगी।

(१) अफ्रीका में घने जंगल है। वहां वायु तक मुक्त संचार नहीं कर पाती।

(२) वहां की नदियां भी उग्र हैं। उनमें मगरमच्छ, जलाश्व, बहुत बड़ी संख्या में रहते हैं।

(३) हाथी, गैंडा, बाघ, सिंह आदि वन्य पशु वहां के वनों में मुक्त विचरण करते हैं।

(४) वहां के कीटक तक खूंखार हैं। चींटियां, चींटें, दीमक आदि कीड़े मकोड़े भी भयानक है। वे क्षणों में बड़ी-बड़ी वस्तुओं को मिट्टी में मिला देते हैं और मनुष्यों को भी खा जाते हैं।

(५) कहीं भयानक उष्णता रहती है तो कहीं-धुंवाधार वर्षा होती है। जहां तहां दलदल बनी रहती है। मच्छरों की भरमार रहती है और वे ऐसा काटते हैं जैसे बिच्छूने डंख मारा हो। तरह-तरह के सांसर्गिक रोगों का वहां नित्य प्रकोप बना रहता है।

वहां की जनता पूर्णत: अज्ञानी थी। उनकी मूर्खता की कोई सीमा नहीं थी। क्रीतदास अर्थात गुलाम के रूप में बेचना खरीदना वहां एक सामान्य बात थी। किसी बड़े आदमी के मरने पर वहां कई गुलामों को बलि चढ़ाया जाता था। लोग जादू टोना टोटका में विश्वास करते थे। मांत्रिक लोग किसी को शेर या भालू या रीछ बना सकते हैं इस हद तक अंध श्रद्धा और मूर्खता विद्यमान थी। लोग न खेती जानते थे, न उद्योग, न पढ़ना लिखना ।

इस प्रकार की अति प्रतिकूल परिस्थिति में डॉ. श्वाइटझर ने बरसों तक सेवाकार्य किया। परिश्रम पूर्वक सेवा कार्य किया। नाम, प्रसिद्धी, कीर्ति, प्रतिष्ठा, किसी की उन्होंने इच्छा नहीं रखी। वे महान कर्मयोगी बने। अपनी आत्मचेतना के भरोसे उन्होंने वहां कार्य किया। चंदन के समान घिसघिसकर उन्होंने दूसरों को आनंद दिया। दुनिया के सामने उन्होंने सेवाधर्म का अलौकिक आदर्श प्रस्थापित किया। डॉ. श्वाईट्झर ने यह अमूल्य मानव सेवा पूरे तन-मन-धन से की। उन्होंने कभी भी सत्ता अथवा स्पर्धा की इच्छा रखकर यह कार्य नहीं किया। मानव धर्म की महानता का जतन करते हुए उन्होंने यह कठिन कार्य असाधारण साधना के तौर पर किया। इस उदार, कोमल दृदयी महान कार्यकर्ता को सन् १९५२ में नोबेल प्राईज से सम्मानित किया गया।

जिस समय डॉ. श्वाईट्सर ने इस महान कार्य का बीड़ा उठाया था तब वे मेडिकल कॉलेज में प्रोफेसर थे और उनकी उम्र मात्र चालीस वर्ष की थी। ''सेवा'' नामक शब्द को उन्होंने महान गौरव प्रदान कर दिया है।

तात्पर्य:- पूरे तौर से घिसने पर ही चन्दन की सुगंध फैलती है।
कीर्ति की चाह में सुख कहाँ?
सुख की चाह में कीर्ति कहाँ?

* * * * * *

किसी दूसरे का नहीं द्रव्य पाओ ।
अतिस्वार्थ में पाप ही पाप भाओ ।।

असत्कर्म ही पाप का जन्मदाता ।
न चाहा मिले तो बड़ा दुःख होता ॥ ९ ॥

मुंबई में दासराव नामक एक आदमी रहता था। उसके पास धन की कोई कमी न थी। उसका ठाठ-बाट किसी राजा से कम न था।

बचपन से दासराव में दूसरे की संपत्ति को हड़प लेने की एक बहुत बुरी आदत थी, बचपन में वह चुपके से दूसरों के खिलौने अपने पास रख लेता। दूसरे बच्चों की मिठाई आदि बड़ी ही कुशलता से हथिया लेता। उसकी इस गंदी आदत को घर के सयानों ने समय से न रोका। और बाद में उसकी इसी आदत से घर के लोग परेशान हो गए। माता-पिता, भाई-भाभी या गाँव में रहने वाले अन्य गणमान्य लोग भी दासराव से तभी सम्मान पाने के हकदार हो सकते थे यदि उनके पास संपत्ति हो। अलग-अलग हथकंडों को अपना कर दासराव ने पारिवारिक संपत्ति की बागडोर अपने ही हाथों में रखी थी। धन के लालच में उसने सभी से स्नेह, प्रेम की भावना को समाप्त कर दिया था। उसका व्यवहार सभी से उद्दंडता का हो गया। दासराव बहुत ही अकड़ कर रहने लगा। एक दिन दासराव का झगड़ा अपनी छोटी भाभी से हो गया। उस बेचारी ने अब तक बहुत सारे अन्याय सहे थे। आज उसे अपने क्रोध पर काबू न रहा और उसने चीख कर दासराव से कहा, ''आप मर भी जाएँगे फिर भी नाग बन कर अपनी संपत्ति पर कुंडली मार कर बैठे रहेंगे।'' दासराव को भी यह सुनकर बहुत गुस्सा आया और वह तुरंत बोला, ''मरने के बाद ही क्यों? मैं अभी से ही अपने कमरे में बैठ जाता हूं। किसी को एक दमड़ी भी न मिलने दूंगा।'' इतना कह कर दासराव अपने कमरे में दनदनाता हुआ चला गया और उसने ज़ोर से दरवाज़ा बंद कर लिया। दासराव के इस व्यवहार पर अन्य लोगों को हँसी आ गई और कुछ लोगों के चेहरे पर ऐसे भी भाव आ गए कि अच्छा हुआ बच्चू अब मज़ा चखो।

परन्तु बात तो एकदम से विपरीत ही हो गई। सात-आठ घंटे हो गए पर दासराव ने दरवाज़ा ही न खोला। अंदर से कुछ आवाज़ भी न आ रही थी। अंत में दरवाजा तुड़वाया गया। अंदर का दृश्य देखकर सभी लोग हैरान रह गए। नोटों की गड्डियों तथा सिक्कों के ढेर पर दासराव बैठा था। उसकी आँखों में जान न थी। उसके हाथ में लॉटरी का टिकट था और वह उस टिकट की ओर टकटकी लगाए देख रहा था । माँ ने आगे बढ़कर उससे पूछा, ''दास, क्या कर रहे हो?'' ठहाका मार कर हँसते, हँसते दासराव ने जवाब दिया, ''मुझे यह कमरा नोटों से भर देना है।'' और दासराव पागलों सा हँसने तथा नाचने लगा।

डॉक्टर को बुलवाया गया। जांच के पश्चात् डॉक्टर साहब ने कहा कि दासराव पूरी तरह पागल हो गया है।

पैसों के पीछे पागल बना दासराव खुद तो मुसीबत में पड़ ही गया परंतु अन्य लोगों के लिये जंजाल भी बन गया।

तात्पर्य:- बहुत अधिक स्वार्थ से धन संचय। यह धन संचय ही आगे जाकर बनता है पाप संचय। पाप संचय की वजह से दुष्कर्म उपजते हैं। दुष्कर्म पाप को आगे बढ़ाते हैं । और इस चक्र का कोई अंत नहीं है । यही दुष्ट-चक्र जीवन के लिये घातक सिद्ध हो जाता है।

✹ ✹ ✹ ✹ ✹ ✹

सदा सर्वदा राम में प्रीति राखो ।
तदा दुःख को भागता दूर देखो ।।
अरे दुःख को सौख्य ही छद्म मानो ।
विचारो जरा स्वात्मका रूप जानो ।। १० ।।

परम पूज्य श्री रामकृष्ण परमहंस को जब कर्क रोग जैसी जटिल बीमारी ने घेर लिया तब उनके प्रिय शिष्य नरेन्द्र अर्थात स्वामी विवेकानंद से उनकी हालत देखी न जाती। गले का कैंसर होने की वजह से उन्हें बात करने में भारी तकलीफ होती थी । अत: नरेन्द्र ने उनसे कम से कम बोलने की बिनती की। परन्तु गुरुदेव ने उससे कहा, ''जब तक मेरी देह में प्राण है, मैं लोगों के प्रश्नों, समस्याओं, शंकाओं का समाधान करता ही रहूँगा। मेरी लगन तो ईश्वर के चरणों में इस कदर लगी है कि शरीर की व्याधि को मैं भुला देता हूं। शरीर में होने वाले दर्द ने मुझे परम पिता परमेश्वर के और निकट ला कर रख दिया है। मेरे मन में ईश्वर के प्रति प्रेम की भावना को अत्यधिक उजागर कर दिया है।''

तात्पर्य:- अपने विवेक को जागृत रखकर, ईश्वर के प्रति दृढ़ निष्ठा बनाए रखने से दैहिक दुखों को बिसारा जा सकता है।

✹ ✹ ✹ ✹ ✹ ✹

कहो सौख्यसंपन्न क्या पूर्ण कोई?
विचारो तथा देख लो विश्वभाई
तुम्हारे यथा कर्म जन्मान्तरों के
फलों को तथा झेलना है उन्हीं के ।। ११ ।।

गांव से बहुत दूर घने जंगल में नदी किनारे एक झोपड़ी में मांडव्यमुनि जी का निवास था । उनका सारा समय ईश्वर के चिंतन तथा ध्यान धारणा में बीत रहा था । ऐसे समय उस

राज के राजा के यहां चोरी हुई। चोर की आहट पा कर राजा के सैनिकों ने उसका पीछा किया। चोर बहुत ही चपल तथा चालाक था। जब वह मुनिराज के झोपड़ी के निकट पहुंचा। तब अपने आप को बचाने हेतु उसने चुराए माल की गठरी को झोपड़ी के दरवाजे में डाल दिया और वह घने जंगल में भाग गया। ठीक इसी समय मुनिमहाराज नदी किनारे अपनी तपश्चर्या में लीन थे। सैनिक चोर का पीछा करते हुए झोपड़ी तक आ पहुंचे। उन्हें वहाँ चुराया हुआ सामान मिल गया और साथ ही उन्हें नदी किनारे मुनिजी भी दिखाई दिये। उन्होंने समझा कि यही चोर है जो चोरी कर के भागा है और अब तपश्चर्या का ढोंग कर रहा है। तुरंत उन्होंने मुनि महाराज को गिरफ्तार कर लिया और दरबार में हाज़िर किया। इस सफलता के लिए सैनिकों को बहुत सारा इनाम दिया गया तथा राजमहल में की गई चोरी के इलज़ाम में मुनिजी को सूली पर चढ़ाने की सजा सुना दी गई। इस सारे किस्से के दौरान मुनि महाराज पूर्णतया मौन रहे। अपने मुँह से एक भी शब्द उन्होंने न निकाला।

उन दिनों फाँसी की सजा, सूली पर चढ़ा कर पूरी की जाती थी, सो मांडव्यमुनि जी को सूली पर चढ़ाया गया।

दूसरे दिन वही चोर एक साहूकार के यहाँ चोरी करते हुए पकड़ा गया। जब उसे साहूकार ने पकड़ा तब बहुत अधिक मार से बचने के लिये उसने स्वयं ही कबूल कर लिया कि पिछले दिन उसने ही राजा के यहां चोरी की थी। राजा से प्रशंसा पाने की लालसा से साहूकार उस चोर को पकड़कर राजा के पास ले गया। पूछताछ के पश्चात् जब राजा ने यह सुना कि उसने चोरी के आरोप में चोर के बजाय एक महान मुनि को सूली पर चढ़ा दिया है तब ब्रह्म हत्या के पाप के विचार मात्र से ही राजा पसीने पसीने हो गया। राजा स्वयं शमशान गया जहां पर मुनिजी को सूली चढ़ाने के पश्चात् फैक दिया गया था। जब राजा ने उनके मृत शरीर को ठीक से देखा और जांचा तब पाया कि मुनिजी के शरीर में अब भी प्राण बाकी थे। राजवैद्य ने मुनिजी को दवा पिलाई। वे जैसे ही होश में आए, राजा उनके पैरों में लौट गया और बार-बार क्षमा की याचना करने लगा। मुनि ने राजा की ओर कोई ध्यान न दिया और वे दक्षिण दिशा की ओर निकल गए।

वहां से निकल कर मुनिजी सीधे यमराज के दरबार में जा पहुँचे। जब यमराज ने मुनिजी को देखा, अपने आसन से नीचे उतर कर बोले, ''मुनि महाराज का मेरे दरबार में हार्दिक स्वागत है।'

मुनिजी अत्यंत कठोर स्वर में बोले, ''मैं यहां पर तुम्हारा आतिथ्य स्वीकार करने नहीं आया हूं वरन् तुमसे यह पूछने आया हूँ कि मुझ जैसे महान योगी के जीवन में ऐसा लांछन एवं ऐसी घृणास्पद सज़ा कैसी? बाल्यावस्था से ही मैंने कभी कोई गलत काम नहीं

किया तथा आजीवन मैं ईश्वर के चरणों में लीन रहा, सदैव अपनी ध्यान-धारणा में निमग्न रहा तब तुम्हारे दरबार में यह अंधेर क्यों कर? क्या अधिकार है तुम्हें मुझे इस तरह अपमानित करने का?'' इस पर यमराज अत्यंत नम्रता से बोले, ''हे मुनिराज आप को गलतफ़हमी हो गई है। आप को गलत सज़ा देने की घृष्टता मैं किस तरह से कर सकता हूँ महाराज? मैं अभी अपने बही-खाते में देखकर वास्तविकता को जांच लेता हूं मुनिवर!''

ऐसा कह कर यमराज ने अपनी जंत्री को जांचा और पाया कि पिछले जनम में मुनिराज ने सात वर्ष की आयु में खेल खेल में कई तितलियों को पकड़ कर उन्हें कांटे चुभोए थे और बहुत आनंद प्राप्त किया था। इसी अपराध की सजा उन्हें इस जनम में सूली पर चढ़ने के रूप में मिली। सूली उनके पेट को पूरी तरह से नष्ट न कर पाई थी। अपने पिछले जनम के कर्मों के फल के रूप में उन्हें सज़ा भी मिली तथा उनके प्राण भी बच गए।

यमराज की बातों को सुन कर मुनिजी अत्यंत शांत स्वर में बोले, ''हे यमराज, तुम्हारी बात पर गहराई से विचार करने पर मैं इस नतीजे पर पहुँचा हूं कि जब तक देह का अहंकार पूर्णतया नष्ट नहीं हो जाता तब तक कोई भी प्राणि अथवा जीव पूरी तरह से न तो ज्ञानी बन सकता है और न ही पूर्ण रूप से सुखी । फिर भी मैं यह अवश्य कहूँगा कि सज़ा को उचित कसौटी पर परख कर ही तय करना होगा। सात वर्ष के बालक की समझ ही कितनी होती है? उस हिसाब से क्या आप ने उचित निर्णय दिया है? इसलिये मैं आप को शाप देता हूँ कि द्वापर युग में आप राज घराने में जन्म पाने पर तथा महान ज्ञानी होने पर भी राजमहल से बाहर रहेंगे और दासीपुत्र कहलाएँगे और आज के बाद किसी भी बालक की आठ वर्ष की आयु तक के सभी अपराधों का उत्तरदायित्व उसकी माता पर होगा।''

इतना कह कर मुनिराज वहां से तुरंत चले गए। द्वापर युग में यमराज ने सत्य की खोज के लिये जन्म लिया तब वे विदुर बन कर इस धरती पर आए। घृतराष्ट्र तथा पांडू के भाई होते हुए भी विदुर हमेशा दासीपुत्र ही कहलाते रहे।

तात्पर्य:- आज हम जिस सुख अथवा दुख को भोगते हैं, वह हमारे पिछले जन्म के कार्यों पर निर्भर करता है। जब तक देह का अहंकार नहीं छूट जाता तब तक ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। और जब तक सच्चा ज्ञान प्राप्त नहीं होता तब तक सुख की प्राप्ति भी कैसी ?

* * * * * *

कभी दु:ख की भावना को न लाओ ।
उसी मार्ग से शोक चिंता भगाओ ।।

विचारो जरा देह आसक्ति त्यागो ।
विदेही बनो मुक्ति को नित्य भोगो ॥ १२ ॥

परमपूज्य रामकृष्ण परमहंसजी से भेंट होने से पहले स्वामी विवेकानंद जी के जीवन की एक घटना-

एक बार नरेंद्र सांसारिक पीड़ा से परेशान होकर अत्यंत विषादमयी अवस्था में एक रास्ते से जा रहे थे। परमार्थ की अटल साधना हेतु उन्हें ''गुरु'' की खोज थी और ''सद्गुरु'' के न मिलने के कारण उनकी यह अवस्था हो गई थी। अचानक उनका ध्यान एक दृश्य की ओर गया। कुछ पागल सा दीखने वाला एक आदमी अपने आप से बड़बड़ाता हुआ और हवा में हाथों को नचाता हुआ रास्ते से जा रहा था। कुछ शैतान बच्चों ने उस आदमी को पत्थर मारना शुरू कर दिया। पत्थरों की मार से वह आदमी अब और अधिक आनंद से नाचने लगा। बच्चों ने और पत्थर मारे और उसे लहुलुहान कर दिया। अब पागल ज़ोर से दौड़ने लगा और गांव के बाहर एक पेड़ के नीचे जा कर सुस्ताने लगा। उस पागल की इस दयनीय अवस्था को देखकर नरेंद्र बहुत दुखी हुए। पागल के ज़ख्मों पर बड़े प्यार से हाथ फेरते हुए उन्होंने कहा, ''बाबा, क्या बहुत दर्द हो रहा है? उन शैतानों बच्चों ने आप को बहुत ही मारा है। मैं अभी उस पर दवाई लगा देता हूँ.......।''

नरेंद्र की बात सुनकर वह आदमी ठहाका मार कर हँस पड़ा और बोला, ''कहाँ के बच्चे? कौन बच्चे? कौन सी देह? भगवान की अगाध लीला से मैं बहुत अधिक प्रभावित एवं प्रसन्न हूँ। भगवान के साथ पत्थरों वाला खेल खेल कर क्या ही आनंद पाया मैंने। इस खेल में बहुत ही आनंद आया..... हा ऽ ऽ ऽ ऽ।''

उस पागल से दीखने वाले आदमी की बात को ध्यान से सुनने के पश्चात् नरेंद्र की समझ में सारी बात स्पष्ट रूप से आ गई। ईश्वर के चिंतन में अपने आप को पूर्ण रूप से लीन कर देने वाला वह आदमी कदापि पागल न था, वरन एक महान ज्ञानी पुरुष था। वह ईश्वर के निकट वह इस कदर पहुँच गया था कि उसे अपने शरीर का ध्यान न था। समस्त विकारों से वह कोसों दूर पहुँचा हुआ आदमी था। वह जीव उन्मनी अवस्था में अनुपम सुख का लाभ ले रहा था।

जिस पल उपर्युक्त बात नरेंद्र की समझ में आ गई ठीक उसी पल वे अपनी विषादमयी मानसिक अवस्था से उबर गए और उसी पल उन्होंने यह निश्चित कर लिया कि उनका ध्येय दुख, शोक चिंता से मुक्त होना है, विवेक के आधार पर।

तात्पर्य :- जब तक देह बुद्धि प्रबल होती है तब तक मन को शोक, चिंता एवं दुख सताते

रहते हैं। विवेक से विदेही अवस्था प्राप्त होती है। प्राणिमात्र जीवन के चक्र से मुक्त हो जाते हैं।

* * * * * *

कथा को स्मरो चित्त! लंकापती की ।
हुआ नाश साम्राज्य का, दुर्गती की ॥
बुरी वासना छोड़ दो पाठ सीखो ।
महाकालकी शक्ति को नित्य देखो ॥ १३ ॥

पांडवों की इन्द्रप्रस्थ नगरी में राजसूय यज्ञ का आयोजन था। इस महान यज्ञ के यज्ञवेत्ता थे साक्षात भगवान श्रीकृष्ण।

महामुनि अग्निहोत्री ने प्रणवमंत्र के साथ यज्ञ के कुंड में अग्नि का प्रज्वलन किया। उन दहकते अंगारों पर भगवान श्रीकृष्ण ने आहुति देने हेतु समिधाओं की छोटी सी गड्डी उठाई और वे उसे अंगारों में चढ़ा ही रहे थे कि उनके कानों में मूर्ख शिशुपाल के अशिष्ट वचन पड़े....

उन्मत्त शिशुपाल क्रोधित हो युधिष्ठिर से बोला,

"हे युधिष्ठिर, एक तुच्छ छोटे से ग्वाले को इस महान यज्ञ की बागडोर थमाकर क्या तुम यहाँ उपस्थित महान योद्धाओं तथा समस्त क्षत्रियों का अपमान नहीं कर रहे हो? तुम्हारे जैसे "धर्म" जानने वाले को क्या यह बात शोभा देती है? महाराज धृतराष्ट्र, पितामह भीष्म, कंचनकाया सा वीरश्रेष्ठ अंगराज आदि महान योद्धाओं को छोड़ कर इस तुच्छ ग्वाले को तुम ने पूजा का अग्रस्थान कैसे दे दिया?" शिशुपाल आगे भी ऐसा ही बहुत कुछ बोलता रहा जो पूर्णतया विवेक से परे तथा भगवान श्रीकृष्ण के लिये अपमानकारक था। अपनी जिव्हा से उगला विष शायद शिशुपाल को कम लगा जो वह आवेश में आ कर भगवान से द्वंद्व-युद्ध के लिये ललकारने लगा।

यज्ञ जैसे पावन पर्व पर विघ्न उपस्थित करने वाले शिशुपाल की ओर भगवान श्रीकृष्ण ने कठोर दृष्टि से देखा और बोले, "शिशुपाल, अब तुम्हारे सौ अपराध पूरे हो गए हैं और अब तुम जीवित रहने का अधिकार खो चुके हो। तुम बहुत अहंकारी हो गए हो अत: तुम्हें मृत्युदंड देना ही उचित होगा।"

इतना कह कर भगवान श्रीकृष्ण ने शिशुपाल की ओर अपना सुदर्शन चक्र छोड़ दिया। यज्ञ हेतु वहाँ एकत्रित सभी लोग इस दृश्य को ठगे से देखते रहे। शिशुपाल अपनी जान बचाने इधर-उधर दौड़ता रहा परन्तु तीव्र गति वाले सुदर्शन चक्र ने उसका पीछा किया और अंत

में इक्षुमति नदी के अन्दर प्रवेश किये हुए भयग्रस्त शिशुपाल का सर धड़ से अलग कर दिया। नदी का पानी रक्त से लाल हो गया।

तात्पर्य:- जिस का जीवन सच्चे परमार्थ को समर्पित है वही सच्चा राजा कहलाता है। ऐहिक या सांसरिक साम्राज्य किसी भी पल नष्ट हो सकता है।

✹ ✹ ✹ ✹ ✹ ✹

यथा कर्म होगा तथा जन्म आता ।
यथा भाव रेखा तथा मृत्यु पाता ।।
बड़े से बड़े भी यही मार्ग लीन्हे ।
असंख्यात जन्मे-मरे कौन जाने ।। १४ ।।

हिरण्याक्ष तथा हिरण्यकश्यपु नामक दो राक्षस थे। दोनों भाई-भाई थे। जब हिरण्यकश्यपु ने यह जाना कि भगवान विष्णु ने हिरण्याक्ष का वध कर दिया है तब हिरण्यकश्यपु बहुत क्रोधित हुआ । उस दुष्ट स्वार्थी ने ब्रह्मदेव की बहुत भक्ति की तथा उन्हें प्रसन्न करने हेतु उसने मंदार पर्वत पर घोर तपश्चर्या की। अंत में भगवान ब्रह्मदेव प्रसन्नतापूर्वक प्रकट हुए और उसे वरदान माँगने को कहा। उस दुष्ट राक्षस ने इच्छित वरदान पाया-

"रात्रि अथवा दिन में, घर में अथवा बाहर, मनुष्य अथवा किसी जानवर से तथा ज़मीन अथवा आकाश में तुम्हें मृत्यु कदापि न आ सकेगी।" उपर्युक्त वरदान की वजह से हिरण्यकश्यपु, मदांध, सत्तांध तथा उन्मत्त हो गया। वह देवताओं को परेशान करने लगा। विष्णु का नाम लेने वालों को मौत के घाट उतारने लगा।

परन्तु भाग्य की लीला ऐसी विचित्र है कि उसका अपना पुत्र प्रह्लाद श्री विष्णु भगवान का परम भक्त उपजा। प्रह्लाद निरंतर नारायण-नारायण का जाप करता रहता। पिता ने बहुतेरा समझाया परन्तु पुत्र ने एक न मानी। उस दुष्ट राक्षस ने अपने पुत्र को समुद्र में फेका, जलती आग में डाला, ऊंचे पहाड़ से नीचे धकेल दिया परन्तु प्रह्लाद को कुछ न हुआ। ईश्वर भक्ति ने उसे हर समय बचा लिया। एक दिन हिरण्यकश्यपु को बहुत क्रोध आया और उसने क्रोधित हो अपने पुत्र से पूछा, "क्या इस सामने वाले खम्भे में तुम्हारा ईश्वर बसता है? पुत्र के हाँ कहने पर हिरण्यकश्यपु ने खम्बे को ज़ोर से लात मारी। तुरंत खम्बे के दो भाग हो गए और उसमें से भगवान विष्णु अपने नृसिंह अवतार के रूप में प्रकट हुए। इस अवतार के हाथ तथा मुख सिंह के तथा बाकी शरीर मानव का था। संध्या समय था और नरसिंह भगवान प्रकट हुए थे। उन्होंने हिरण्यकश्यपु को ज़ोर से खींचा, अपनी गोद में लिटाया और अपने तीक्ष्ण नखों से उसका पेट फाड़ डाला और उसका वध कर दिया। इस तरीके से ब्रह्मदेव के वरदान

को अपमानित किये बगैर श्री विष्णु भगवान ने दुष्ट राक्षस का संहार किया।''

तात्पर्यः- अपने अपने कर्मों की गति से ही हम किसी परिवार में जन्म लेते हैं। संयोगवश परिवार के अन्य व्यक्ति भी हमें वहीं मिलते हैं परन्तु मृत्यु के लिये क्या राजा, क्या भिखारी, सभी समान हैं।

✸ ✸ ✸ ✸ ✸ ✸

स्मरो लोक का नाम ही मृत्युभू है ।
वृथा है पिपासा अहंता वृथा है ॥
चिरंजीव हूं मैं भरा दर्प जीना ।
अकस्मात सर्वस्व को छोड़ जाना ॥ १५ ॥

पुणे में अरूण नामक एक युवक रहा करता था। वह छोटा मोटा व्यापार किया करता था और अपना जीवन निर्वाह कर रहा था । इन दिनों उसे अपने इस व्यवसाय में बहुत सारा घाटा हुआ था। इसलिये वह अपने एक रिश्तेदार के यहां कुछ रुपया उधार माँगने जा पहुँचा। उनका नाम बंडोपंत था। वे अरूण की माली हालात से पूर्णतया परिचित थे। बंडोपंत का स्वभाव लालची था सो उन्होंने अरुण से कहा, ''मैं तुम्हें पांच सौ रुपए देने को तैयार हूँ पर यह बताओ कि तुम रेहन क्या रखोगे?'' अरुण को रुपयों की सख्त ज़रुरत थी अत: उसने कहा कि मेरे पास लॉटरी का एक टिकट है, उसे ही रेहन में रख लीजिए। बंडोपंत को सौदा मंजूर हो गया और अरूण को पांच सौ रुपए मिल गए। अरुण घर लौट आया। बात आई-गई हो गई।

कुछ ही दिनों में अरुण का कारोबार पूरी तरह से चौपट हो गया। अब वह पांच सौ रुपए चुकाने की स्थिति में भी नहीं था। वह बहुत अधिक दुखी एवं उदास हो गया। अचानक उसे खबर मिली कि उसने जो टिकट बंडोपंत जी को दिया था उसे प्रथम पुरस्कार मिला है । अत: टिकट लेने के लिये वह बंडोपंतजी के पास गया । जैसे ही बंडोपंत ने उसे देखा, उससे झगड़ा शुरू कर दिया। सीधे मुँह बात तक न की । अब अरुण का दिमाग भी गर्म हो गया । दोनों के बीच बहुत अधिक कहा- सुनी हो गई । इस तूतू-मैं मैं का परिणाम यह रहा कि मोटे तगड़े बंडोपंत जी को दिल का दौरा तीव्रता से पड़ा और वे जाते रहे । टिकट का रुपया भी न मिल सका और जान से भी हाथ धोने पड़े। इस दुखद घटना का अरुण के दिलो-दिमाग पर इतना गहरा असर हुआ कि उसका मानसिक संतुलन पूर्णतया बिगड़ गया । बची हुई जिंदगी उसने घोर निराशा में ही बिताई।

तात्पर्यः- मनुष्य को सदैव विवेक से ही काम लेना चाहिये।

✸ ✸ ✸ ✸ ✸ ✸

मरे एक दूजा करे शोक भारी ।
उसी दूसरे की लगे शीघ्र बारी ॥
नहीं अन्त में लोभ या क्षोभ छूटा ।
इसी से पुनर्जन्म पाया अनूठा ॥ १६ ॥

पुणे के सुप्रसिद्ध श्री पुणतांबेकरजी का निधन हो गया। शमशान में सारा वातावरण शोकमय था। उस समय वहां मराठी के जाने माने लेखक श्री गजेन्द्रगड़कर भी उपस्थित थे। शोकसभा में बोलते हुए उन्होंने कहा, ''मृत्यु नामक चीज समझ से परे है। एक न एक दिन जाना तो सभी को है परन्तु किसे कब जाना है, कोई बता नहीं सकता। हो सकता है कि कल आप सभी यहां मेरे लिये भी एकत्रित हो जाए।''

ऊपरी तौर से सरल लगने वाले उपर्युक्त शब्द वाकई एक गहन गंभीर सत्य से जुड़े हुए थे। दूसरे दिन उसी शमशान भूमि पर सभी लोग श्री गजेन्द्रगड़करजी को श्रद्धांजली अर्पित करने हेतु एकत्रित हुए थे।

तात्पर्य:- कोई एक जब किसी दूसरे एक के लिये शोक कर रहा होता है तब अनायास ही वह उसी पथ पर भी अग्रसर होता रहता है।

उपर्युक्त श्लोक की अंतिम दो पंक्तियां यह स्पष्ट करती हैं कि यदि इस मृत्यु को हम अंतिम मृत्यु मान लें और पुनर्जन्म की इच्छा भी न रखे तो हमें विवेक से काम लेना होगा, ऐसा संतों का कहना है।

दादर में रहने वाली मालूताई बहुत अमीर घर में जनमीं तथा उनका समूचा जीवन बहुत ही धन सम्पन्न परिवार में बीता। जीवन भर चाभियों के गुच्छे की वे मालकिन रहीं। चाभियों का गुच्छा हमेशा पल्लू से बंधा रहता था। गृहस्थी के मोह जाल में वे ज़रूरत से ज्यादा लिप्त थीं। साठ वर्ष की उम्र में वे बहुत बीमार हो गईं। अस्पताल वालों ने जवाब दे दिया तथा उन्हें घर ले जाने का आदेश दें दिया। वे जीवन की अंतिम घड़ियां गिन रहीं थी। परिवार जनों ने उनके पल्लू से चाभियों का गुच्छा निकाल लिया था। अपनी अर्ध-बेहोशी की हालत में मालूताई बार-बार अपने पल्लू के छोर को टटोल रहीं थीं। उनके प्राण अटके पड़े थे। अन्त में किसी ने बात को समझ कर चाभियों का गुच्छा उनके पल्लू से बांध दिया। मालूताई ने उसे छुआ और अपने प्राण त्याग दिये।

तात्पर्य:- वासनाओं के रहते पुनर्जन्म निश्चित जानें।

✸ ✸ ✸ ✸ ✸ ✸

बहुत पुराने समय की बात है दूर दराज के गाँव में गीता नामक एक लड़की रहती

थी। अपने घर के एक नौकर के साथ उसका प्रेम हो गया और एक दिन घर से चुपचाप भाग कर दोनों ने विवाह कर लिया। माता-पिता का स्नेह तथा घर दोनों छूट गए। कुछ महीनों के पश्चात् सत्य परिस्थिति से सामना होने पर वह दुखी हो गई। जिसके साथ विवाह किया था वह नौकर कंगाल भी था और शराबी भी। समय के बीतने गीता के पैर भारी हो गए। उसे अपने माता-पिता की याद तीव्रता से आने लगी। उसने सोचा कि माता-पिता के पैरों में लौटकर क्षमा माँग लेने और उनके आसरे ही बच्चे को जनम देना उचित है। वह अकेली ही घर से बाहर निकल पड़ी। चलते चलते थक गई। रास्ता ऊबड़-खाबड़ था सो उसे दर्द उभर आया और रास्ते में, एकांत में उसकी प्रसूति हो गई। बच्चे की मौत हो गई। थकी हारी गीता अत्यंत दुखी मन से अपने घर लौट गई। माता-पिता के घर जाने की बात अधूरी ही रह गई। लौटते समय उसे श्री रामदास जी के श्लोक अनायास ही स्मरण हो आए -

मनो में करे मानव व्यर्थ चिंता ।
लिखा जो विधाता वही सर्व होता ॥
किया कर्म जैसे फलों को हि पाता ।
बुद्धिहीन हो दुःख में चूर होता ॥ १७ ॥

रहे आसका स्थान श्रीरामजी का ।
स्तुति स्तोत्र त्यागो किसी आदमी का ॥
जिसे वेद पौराणिकों ने बखाना ।
उसी की स्तुति में भला गीत गाना ॥ १८ ॥

उपर्युक्त श्लोकों के स्मरण मात्र से गीता को बहुत धीरज बंध गया। पति भी पश्चात्ताप की अग्नि में जलने लगा। अपनी प्रिय पत्नी को उस ने वचन दिया कि आइन्दा न तो वह शराब पियेगा और न ही कोई गलत काम करेगा। अब दोनों का जीवन सुख से बीतने लगा। यथा समय गीता फिर से गर्भवती हो गई। इस बार पति-पत्नी दोनों ने यह सोचा कि गीता के माता-पिता के पास जा कर क्षमा मांग ली जाय तथा आपसी संबंधों को सुधार लिया जाय। दोनों साथ-साथ निकल पड़े। राह में जंगल पड़ता था तथा गीता का नैहर नदी के उस पार था। फल तोड़ने के लिये गीता का पति एक ऊंचे पड़े पर चढ़ गया, परन्तु पैर फिसल जाने की वजह से ऊपर से नीचे गिर पड़ा और चल बसा। इस भयंकर घटना का गीता के मन पर इतना गहरा असर पड़ा कि तुरंत उसके पेट में पीड़ा होने लगी और उसकी प्रसूति हो गई। इस बार उसके जुड़वां बच्चे हुए थे। बच्चों को लेकर वह नदी किनारे तक आई। तैर कर नदी पार करने की उसने ठानी। एक बच्चे को किनारे पर रखकर एक को लेकर वह तैरने लगी। कमज़ोरी

तथा मानसिक दुख के कारण उसका छोटा बच्चा उसके हाथ से पानी में फिसल गया और डूब गया। जैसे तैसे वह लौटकर दूसरे बच्चे तक पहुंची तब पाया कि उसे जंगली जानवर उठा ले गए हैं। वह हताश हो फिर से अपने माता पिता के गांव को लौट पड़ी । जैसे ही उसने नदी पार की उसे नदी के घाट पर तीन चिताएं जलती हुई दिखाई दीं। बहुत सारे परिचित तथा रिश्ते के लोग भी वहां उसे दिखाई दिये। पूछताछ करने पर उसे पता चला कि वे चिताएं उसके माता-पिता तथा भाई की थीं। घर में अचानक आग लग जाने की वजह से उनकी मौत हो गई थी। इस तीव्र आघात को अब गीता सह न पाई और बदहवास हो दौड़ने लगी। उसे अपने कपड़ों तक का होश नहीं रहा। नग्न अवस्था में वह दौड़ रही थी। उसका मानसिक संतुलन बिगड़ गया था। वह पागल हो दौड़ रही थी। गांव के बाहर उस समय भगवान बुद्ध का प्रवचन चल रहा था। उस नग्न पागल लड़की को देखकर भगवान बुद्ध बहुत दुखी हुए और उन्होंने तुरंत उसे अपनी चादर से ढंक दिया। चादर तथा भगवान बुद्ध की कृपा दृष्टि के वज्र कवच के अन्दर गीता पूर्णतया सुरक्षित हो गई। समय के बीतते उसका पागलपन घटता गया। उसे अहसास हो गया कि संसार असार है, मिथ्या है। भगवान बुद्ध ने अपनी दीक्षा में उसे समझाया कि "ईश्वर ही सत्य है।"

कभी सत्य का पक्ष ना छोड़ देना ।
नही सर्वथा झूठ का साथ देना ॥
न बोलो कभी झूठ राखो सचाई ।
सभी रीति की चित्त छोड़ो बुराई ॥ १९ ॥

तात्पर्यः- अज्ञानी मनुष्य देहाहंकार की वजह से भोगों की चिंता करता है और स्वजनों की मृत्यु पर दुख करता है। इसलिये हे मन, शास्त्रानुभवों पर विश्वास कर और मात्र ईश्वर की प्राप्ति की इच्छा रख। ईश्वर के गुणों का बखान कर, क्योंकि मात्र वही सत्य है। अन्य सब कुछ मिथ्या है।

✸ ✸ ✸ ✸ ✸ ✸

नवो मास माँ के तनू में रहोगे ।
बड़े दुःख से उष्णता में पचोगे ॥
वहां से चले हाय औंधे गिरोगे ।
अहा जन्म से क्रंदनों को करोगे ॥ २० ॥

जन सामान्य का जन्म वासना अर्थात हवस की वजह से होता है और नरदेह मिलने

पर भी विवेक के अभाव में मृत्यु भी हवस की वजह से, कामनाओं में लिप्त मन का पुनर्जन्म निश्चित है और जन्म लेते समय गर्भवास की यातनाओं का भोगना अटल है। इसलिये सद्गुरु स्वामी रामदास जी कहते हैं -

न आना न जाना यदि चाहते हो
महाचक्र टूटे यदि चाहते हो
तजो वासना कामना द्रव्यदारा
धरो चित्त में राम ही का सहारा ।। २१ ।।

एक आदमी बड़ा ही सज्जन था परन्तु लालची तथा मूर्ख पत्नी के आगे उसकी एक न चलती थी। पत्नी ने बहुत ज़िद की, कि वह भगवान को प्रसन्न कर ले और इच्छित वरदान मांग ले। पत्नी के हठ की वजह से उसने अपार भक्ति की और भगवान को प्रसन्न कर लिया।

भगवान ने उसे वरदान दिया कि उसकी तीन इच्छाएं वे पूरी करेंगे। मूर्ख पत्नी के साथ रहकर उसकी मति मारी गई थी । उसने पहली इच्छा व्यक्त की कि उसके आंगन में पड़ा भारी पत्थर अपने आप उसके पास आ जाए। तुरंत पत्थर सामने आ गया। उस पत्थर पर हाथ रखकर उसने इच्छा प्रकट की कि वह सब कुछ सोने का बन जाये। अब उसके दोनों हाथ तथा पत्थर सोने के हो गए । पत्नी ने जब पति के सोने के हाथ देखे तब क्रोध से बोली "तुम्हारे हाथ पहले जैसे हो जाये यही इच्छा मन में लाओ।" उसके हाथ पूर्ववत हो गए। उपर्युक्त कहानी का तात्पर्य यह है कि जो धन तथा दारा के पीछे दीवाना होगा उसका सर्वनाश निश्चित है। ये दोनों सत्यानाश का कारण हैं। लोभ के रहते गर्भवास अवश्य है और ईश्वर चिंतन से सत् सहवास होता है।

तात्पर्य:- गृहस्थ व्यक्ति के लिये कम से कम भोग करना ही उसका त्याग है।

* * * * * *

सुनो चित्त कल्याण साधो हमारा ।
गहो रामके पांव की भक्तिधारा ।।
महाराज आराध्य श्रीमारुती के ।
त्रिलोकेश उद्धारकर्ता सभी के ।। २२ ।।

उपर्युक्त श्लोकों तथा कहानियों के पठन, अभ्यास तथा रचना के समय आत्मविभोर होते हुए स्वर्गीय वसुंधराजी अपने परम सद्गुरु के चरण कमल में इस प्रकार लीन हो गईं कि उनमें अपने आप कुछ काव्य पंक्तियों स्फुरित हुईं। उन भक्तिमय पंक्तियों का यथामति

तथा यथाशक्ति अनुवाद प्रस्तुत है।

मैं किसी और की नहीं हूँ
मात्र अपने सद्‌गुरु की कन्या हूं।
कितने ही नाते हैं
कितने ही रिश्ते हैं
स्नेह से बंधे अपार जन हैं।
परन्तु .....
वे सारे व्यर्थ हैं
अर्थहीन हैं ..... मूल्यहीन हैं!
स्तवन सद्‌गुरु को कैसे करूँ?
श्रुतियों की शक्ति भी क्षीण है
सत्‌गुरु स्तवन में
शब्द, उपमाएँ अपने स्तर से ओछी हैं
वह तो मात्र
आत्मप्रचिती- स्वयंप्रचिती के अनुभवों का आनंद है
वह अनमोल है .... अनमोल है .... अनमोल है।

✸ ✸ ✸ ✸ ✸ ✸

न बोलो कभी अन्य वार्ता कुवार्ता।
कहो नाम श्रीराम जो सौख्यदाता॥
क्षणों में चला काल आयुष्य खाता।
बिना राम के कौन हैं अन्य त्राता? ॥ २३ ॥

जब गदाधरने कालीमाता के मंदिर में पुजारी के रूप में काम करना आरंभ किया तब वह मात्र एक किशोर था। वह पूरे मनोयोग से पूजा-विधि में लीन हो जाता। कभी कभार उसके मन में यह विचार तूफान् पैदा कर देता कि क्या वाकई इस मूर्ति में जगन्माता निवास करतीं है? माता के दर्शनों के लिये वह हर पल व्याकुल रहने लगा। निरंतर इसी आस में, दर्शन की प्यास में वह अकुलाया रहता। पूजा- अर्चना तो करता था परन्तु सुध-बुध इस तरह बिसार दी थी कि कभी कभी दो तीन घंटे माता की आरती ही करता रहता। कभी गहन विचारों

में खोकर माता को प्रसाद का भोग लगाना भी भूल जाता। रात-दिन एक ही धुन उसके मन हृदय में थी कि एक बार माता के दर्शन हो जायें, बस।

समय बीतता गया और एक दिन उस मंदिर में एक तपस्विनी माता पधारी। वे बालक की व्याकुलता को देखकर उससे बहुत प्रसन्न हुईं और बोली, "हे बालक तुम वास्तव में असाधारण हो। इस छोटी सी उम्र में तुम्हें ईश्वर के प्रति इतनी अधिक आसक्ति होना कोई साधारण बात नहीं है। मैं तुम्हारा मार्गदर्शन करूंगी।"

उस तपस्विनी ने बालक को उचित मार्ग दिखाया। वह उसके पास उस समय तक रहीं जब तक बालक ने भक्ति मार्ग को और अच्छी प्रकार से तथा अधिक गहराई से समझ एवं अपना न लिया। बालक को उचित मार्ग मिल जाने का विश्वास होते ही वह तपस्विनी अचानक वहां से हमेशा के लिये गायब हो गई। बालक को उस तपस्विनी मां के दर्शन दोबारा कभी न हुए।

जगन्माता के दर्शनों की लगन बालक को इतनी उत्कटता से लगी कि कुछ दिनों के लिये उसके अन्दर स्त्रीत्व की भावना भी जगी। परन्तु इस असाधारण परिवर्तन की ओर उसका ध्यान तक न गया। समय के बीतते उस बालक के जीवन में एक बालिका ने उसकी पत्नी के रूप में प्रवेश किया। अपनी पत्नी में भी उस बालक ने मात्र जगन्माता के ही दर्शन किये।

इस गहरी लगन के फलस्वरूप बालक को ईश्वरानुभूति, धर्म अनुभूति अर्थात सत्य अनुभूति का प्रसाद मिला। उपर्युक्त बालक कोई और नहीं वरन् सदैव उन्मन अवस्था में रहने वाले परम पूज्य रामकृष्ण परमहंस थे। (स्वामी विवेकानंद जी के विचारों के आधार से)

जब वे बहुत अकुला जाते थे तब उनके मन में विचारों का तूफान मच जाता था। वे सोचते, "हे ईश्वर, क्या सचमुच तुम्हारा अस्तित्व है?" जवाब उन्हें उनके अंतर से ही मिलता " तुम्हारा बनाया समूचा विश्व और उसका चलना ही इसका साक्षी है।" विचारों के तूफान से अंदर ही अंदर अकुलाए हृदय का साक्षी होता था, उनकी आँखों से बहता पानी। माता के दर्शन हो नहीं रहे थे। प्रत्येक पल एकयुग सा प्रतीत होने लगा था। इस रट अथवा लगन की वजह से उन्हें दिन रात भ्रमित अवस्था में जीने की आदत सी पड़ गई थी। एक मात्र इस भावना से कि "आज का दिन भी माता के दर्शनों के अभाव में व्यर्थ ही रहा" रोते-रोते उनकी हिचकियां बँध जातीं। जन्म, मृत्यु, धन, भय, गरीबी, सुख, दुख आदि समस्याओं को नगण्य ज़ान कर इनसे परे, माता के दर्शन के केन्द्र बिन्दु की परिधि में उनका मन-हृदय घूमता रहता था। ऐहिक सुखों एवं दुखों की परछाँई तक उन्हें छू न सकी थी। किसी भी पाठशाला अथवा विश्वविद्यालय में कभी दाखिला न लेते हुए भी वे अपने आप में एक महान ज्ञानी पुरुष थे।

धीरे-धीरे उन्होंने पुजारी वाला काम भी त्याग दिया। धन-संचय की वृत्ति को टालने हेतु उन्होंने अपने पास का सारा धन (जो मूलत: बहुत कम ही था) लोगों में बाँट दिया। एक झोपड़ी में रहकर, धन, दारा, लिंगभेद आदि को भुला कर वे निरंतर माता की भक्ति में लगे रहे। इस ज्ञानी पुरुष ने हमें बहुत कुछ दिया है।

तात्पर्य:- जीवन में निरंतर ईश्वर की लगन होनी चाहिये। यही लगन अंत समय में हमें सभी प्रकार की वासनाओं से मुक्ति दिलाती है। हमें सतत अंतिम सत्य का ध्यान रखना चाहिये।

* * * * * *

बिना राम के तुच्छतापूर्ण जीना
बिना राम के बोलना सारहीना
सदासर्वदा रामही राम बोलो
अहंता महापापिणी मार डालो ॥ २४ ॥

महामाता कुंती आजीवन गृहस्थी तथा जीवन को कर्मभोग की दृष्टि से देखती रहीं। परन्तु स्वहित का उन्हें कभी भी विस्मरण न रहा। एक दिन वे भगवान श्री कृष्ण से बोलीं, "हे भगवन, अंहकार नामक वस्तु आत्मा की उन्नति के लिये सदैव बाधक सिद्ध हुई है। अंहकार को यदि परे रखना है, तो तुम्हारा निरंतर स्मरण, चिंतन परमावश्यक हो जाता है। कभी-कभी मुझे तुम्हारा विस्मरण हो जाता है। अत: हे प्रभु, मेरी आपसे विनम्र याचना है कि संसार के समग्र दुख मेरी झोली में वरदान के रूप में डाल दो ताकि "हे ईश्वर रक्षा करो" के अलावा मेरे मुख से और कुछ न निकले। सदैव तुम्हारा स्मरण मन में बना रहे।"

महाभारत के युद्ध के पश्चात् सभी पांडव अत्यंत खिन्न अवस्था में बैठे थे। भगवान श्रीकृष्ण ने उन्हें शांति-यज्ञ करने की आज्ञा दी तथा इस यज्ञ के सम्पन्न करने हेतु बीहड़ जंगल में, संसार तथा सांसारिक दुखों सुखों से कोसों दूर रहने वाले ऋषि बकदाल्भ्य को आमंत्रित करने की आज्ञा भी दी।

क्रमश: पांचों पांडव उन्हें निमंत्रण देने के लिये गए परन्तु उन्होंने यह कह कर कि "सौ यज्ञों के पश्चात् ही मैं आ सकता हूं। क्या आप ने सौ यज्ञ पूरे कर लिये हैं?" उन्हें लौटा दिया। जब अर्जुन ने महाभारत के युद्ध की बात छेड़ी तब वे अत्यंत क्रोधित होते हुए बोले, "कैसा युद्ध? इस आश्रम में मात्र शांति की बात चलती है। यह शांति आश्रम है और युद्ध की भाषा बोलने वाले को यहां पलभर भी रुकने का अधिकार नहीं है।" ऐसा कह कर उन्होंने अर्जुन को आश्रम से निकाल बाहर कर दिया।

अंत में माता कुंती ने द्रौपदी के कानों में धीरे से कुछ कहा। अंतिम उपाय के रूप में द्रौपदी निमंत्रण देने हेतु निकल पड़ी।

अंहकार रहित विनम्र पांचाली आश्रम पहुंची और अत्यंत नम्रता से बोली, ''मुनिवर्य, आपकी शिष्या पांचाली आपका श्रद्धापूर्वक अभिवादन करती है। पांडवपत्नी द्रौपदी की आपके चरणों में नम्र बिनती है कि आप शांति यज्ञ में पधारें और हमें अनुग्रहित करें। हे मुनिराज, माता कुंती ने सदैव प्रत्येक कर्म भगवान के स्मरण से तथा ईश्वर के चरणों में अर्पण के साथ किया है। अपने पुत्रों में भी उन्होंने यही आदत डाली है। आपके सम्मुख उपस्थित यह नश्वर शरीर भी निरंतर ईश-चिंतन में डूबा रहा करता है। हे गुरूदेव, आप ही के वचन हैं कि ''हर सांस के साथ जो ईश स्मरण करता है वह कदम-कदम पर यज्ञ कर्म को करता है।'' फिर माता कुंती, उनके पुत्रों तथा पुत्रवधु के द्वारा किये गए यज्ञों की, क्या गिनती होगी?''

उपर्युक्त संवाद में कहीं भी ''अहं'' की भावना को न पाकर मुनिवर प्रसन्न हुए और उन्होंने यज्ञ में शामिल होकर सभी का मान बढ़ाया।

तात्पर्यः- निरंतर ईश स्मरण से अहंकार दूर हो जाता है और अहंकार बिना किया गया ईश-स्मरण आध्यात्मिक दृष्टि से मानव को ऊँची सतह पर ले जाता है।

* * * * * *

पुनः बोलता हूं नहीं ऊब जाना ।
अभी आज ही राम को शीघ्र पाना ।।
सुखों को तजो तो तुम्हें सौख्य होगा ।
सभी है विनाशी न कोई बचेगा ।। २५ ।।

छोटे अमित से उसकी माँ हमेशा पढ़ाई करते रहने को कहती। अमित को रोज-रोज पढ़ाई करना अच्छा नहीं लगता था। उसकी माँ ने उसे समझाया, ''देखो अमित, कल को तुम उम्र में बड़े हो जाओगे तब प्रत्येक बात का प्रतिदिन नियमित रूप से किया गया अभ्यास तुम्हें हर दिशा में बड़ा बनने में सहायक सिद्ध होगा। ऊपरी आमोद-प्रमोद कुछ समय के लिये ठीक हैं परन्तु तन-मन से किया गया पठन, मनन, चिंतन तथा अभ्यास ही तुम्हारे भविष्य को उज्वल बना सकेगा।''

उपर्युक्त बात मात्र बच्चों के ही भविष्य की ही बात न हो कर सभी उम्र के लोगों के लिये भी उचित ही है। संतों के वचनों के अनुसार प्रत्येक को नित्य-अनित्य विवेक से अपने जीवन को ढालना है।

तात्पर्यः- संतों के वचन सदैव विवेकपूर्ण जीवन बिताने के आग्रही होते हैं।

* * * * * *

महायत्न से देह को है संभाला ।
बने अंत में कालकाही निवाला ॥
सभी छोड़ दो चिंतना ऐहिकों की ।
करे भक्ति हे चित्त श्रीराम ही की ॥ २६ ॥

तजो भीरुता घोर कार्पण्य त्यागो ।
धरो धरिता वीरता चित्त जागो ॥
धरा हाथ है शीर्ष पे रामजी का ।
यदि क्रुद्ध हों तो भला ना किसी का ॥ २७ ॥

महाभारत के युद्ध में महान योद्धा कर्ण कौरवों की ओर से युद्ध में शामिल हुआ था। अपनी देह की रक्षा हेतु उसके पास वरुणास्त्र, भार्गवास्त्र तथा ब्रह्मास्त्र भी था। शायद इन अस्त्रों के प्राप्त करते समय कर्ण धर्मानुसार कहीं चूक गया था । जिसके फलस्वरूप अत्यंत कठिन समर समय में उसके रथ का पहिया दलदल में फँस गया। बहुतेरी कोशिश करने पर भी वह बाहर न निकल सका। कर्ण सभी ओर से असहाय हो गया तब धर्मपरायण अर्जुन से, जिसकी निष्ठा ''धर्म'' में गहरी थी, कर्ण ने यह कह कर कि ''नि:शस्त्र पर वार करना धर्म के विरोध में है'' अर्जुन से धर्म के अनुसार आचरण करने की बिनती की; परन्तु भगवान श्रीकृष्ण ने समय को पहचान कर कर्ण को धर्म का सच्चा अर्थ समझाया और अर्जुन के सात्विक संताप को प्रोत्साहित करते हुए कर्ण का वध करवाया। कर्ण के देहरक्षण के समस्त उपाय व्यर्थ रहे। इसी समय वह अर्जुन जो युद्ध के आरंभ होने से पूर्व अपने ही सगे संबंधियों के विरोध में युद्ध करने के लिये किसी भी हालत में तैयार न था, भगवान के उपदेश के फलस्वरूप मायाजाल से बाहर निकल कर धर्म युद्ध में तत्पर हो गया। भगवान बोले, ''कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।

अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥

(भगवान बोले, ''हे अर्जुन, आर्यों को शोभा न देने वाला, आर्यों का मान घटाने वाला तथा स्वर्ग के दरवाजे सदैव के लिये बंद कर देने वाला यह कैसा मोह तुम्हें घेर रहा है?)

भवसागर के अपार मोह को जानने वाले भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अति उत्तम उपदेश किया जिसे हम ''गीता'' के नाम से जानते हैं। भगवान से ज्ञान प्राप्त हो जाने पर अर्जुन ने कहा,

नष्टो मोह: स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादात्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देह: करिष्ये वचनं तव ॥

अर्थात्

अर्जुन ने कहा, हे भगवन्! आपकी असीम कृपा के फलस्वरूप मेरे मन में उत्पन्न मोहमाया का अन्त हो चुका है। मुझे अपने कर्तव्य का भान आ गया है। अब मैं नि:संदेह हो गया हूँ। आपकी आज्ञा के अनुसार अब मैं युद्ध हेतु उपस्थित हूं।

तात्पर्य:- ईश्वर की भक्ति करने वाला सांसारिक चिंताओं से मुक्ति पा जाता है। यदि साक्षात् यमराज भी सामने उपस्थित हो जाय, तब भी ईश्वर के आधीन मनुष्य अथवा जीव चिंता मुक्त रह पाता है।

* * * * * *

दिनानाथ ये राम कोदंडधारी ।
उन्हें देखते काल की शक्ति हारी ॥
महावाक्य शास्त्रोक्त ये सत्य वाणी ।
नुपेक्षे कभी रामदासाभिमानी ॥ २८ ॥

डहाणू नामक छोटे से शहर की बात है। यूँ तो मुख्य रास्ता हमेशा निर्जन सा रहता है परन्तु अंतिम गाड़ी के आ जाने के बाद बहुत ही चहल पहल हो जाती है। बस, स्कूटर, रिक्षा, पैदल चलने वालों की भीड़ सी हो जाती है।

ऐसे समय में दो दोस्त अपने स्कूटर पर सवार होकर होटल में चाय पीने के लिये निकल पड़े। सामने से बस पूरी गति से आ रही थी। उन्होंने स्कूटर को रास्ते से अलग नीचे ढलान में उतार लिया। बस के आगे बढ़ जाने के पश्चात् दोनों फिर उस सड़क पर आ गए। अचानक स्कूटर फिसल गई और दोनों ही सवार जोरदार आवाज के साथ रास्ते पर गिर पड़े। लोगों ने भयभीत आँखों से उनकी ओर देखा क्योंकि उस भीड़ वाले रास्ते पर किसी भी पल दुर्घटना घटित हो सकती थी। परन्तु ईश्वर की लीला अगाध है कि उस समय रास्ते के दोनों ओर से कोई भी वाहन नहीं आ रहा था। जैसे उन दोनों की जान बचाने हेतु दोनों ओर की आवाजाही किसी ने रोक रखी हो।

तात्पर्य:- हे मन, ईश्वर हमेशा अनाथों तथा भक्तों की रक्षा करता है इस बात पर विश्वास रख और समर्थ रामदास के वचन ''निज भक्त प्रभू कभी न अवमानै''का स्मरण रख.

॥ जा को राखे साँईया, मार सकै ना कोय ॥

* * * * * *

सुनो घोषणा है प्रभू के पदों की ।
भलों का भला, ताडना दुर्जनों की ॥
अयोध्या पुरी को दिया स्वर्ग दानी ।
नुपेक्षे कभी रामदासाभिमानी ॥ २९ ॥

वेदों के अभ्यास द्वारा ज्ञान प्राप्त करने हेतु मुनि भाराद्वाज अविरत ज्ञान साधना में लगे हुए थे। उनकी ज्ञान साधना घोर अरण्य के एकांतवास में चल रही थी। उनकी ज्ञान लालसा को देखकर एक बार भगवान इन्द्र उनसे मिलने वहाँ पहुँचे और बोले, ''हे मुनिवर, पिछले तीन जनम से, यानी कि तीन सौ वर्ष से आप इस ज्ञान साधना में लगे हुए हैं। यदि आप को चौथा ज़नम भी मिल जाये तब भी क्या आप इसी प्रकार से ज्ञान-यज्ञ में लगे रहेंगे?''

मुनिवर ने जवाब में कहा, ''निस्सन्देह मैं वेदों के अभ्यास में ही लगा रहूँगा।''

तब इन्द्र बोले, ''इस प्रकार से तो वेदों के अभ्यास के लिये सौ जन्म भी पूरे न पड़ेंगे। मुनिवर प्रत्येक समय नया विचार, नया अर्थ और उस अर्थ के अनुसार पुन्ह: अभ्यास। मेरी आप से बिनती है मुनिवर कि अब आप अपने ज्ञान का लाभ लोगों तक पहुँचाएँ। आप के गहन अभ्यास से मैं पूर्णतया परिचित हूँ और आप को मैं ''सावित्राग्निचयना'' की सम्मति देता हूँ तथा एक राजा होने की हैसियत से आप को आज्ञा देता हूँ कि आप सामान्य जनता की ओर ध्यान दें तथा जनजागृति का कार्य करें।''

इस पर भारद्वाजमुनि ने पूछा, ''हे राजन, जनजागरण का कार्य मुझे किस लिये सौपा जा रहा है?''

देवराज इन्द्र अत्यंत गंभीर तथा संयत स्वर में बोले, ''हे महामुनि, जिस प्रकार से अग्निज्वाला सदैव ऊपर की ओर उठती रहती है उसी प्रकार से प्रत्येक जीवात्मा को सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से ऊपर उठना चाहिये। आप के अन्तर्मन में अब वेदों के गहन अभ्यास के फलस्वरूप हवनज्योति का निर्माण हो चुका है। आप पूर्णत्व को प्राप्त कर चुके हैं अत: हे मुनिवर अब इस प्राणज्योति नामक दिये से घट-घट में उजियारा कर दें।''

मुनिवर, इन्द्र की बातों से प्रभावित हुए और उन्होंने जनजागृति के महान कार्य का आरंभ किया। उस समय के सामान्य लोगों को उन्होंने धर्म की परिभाषा को अत्यंत सरल शब्दों में समझाया। प्रत्येक जीव तथा सृष्टि का महत्व, धर्म की परिभाषा में समझाया। गाय के अन्दर तैंतीस करोड़ देववास करते हैं, यह धार्मिक भावना उन्हीं की देन है। उन्होंने मानव स्वभाव को बहुत ही अच्छी तरह से समझा तथा परखा था। अत: मनुष्य के उत्तम आचरण-व्यवहार हेतु उसके मन में परलोक के प्रति आस्था तथा किसी एक सीमा तक डर बना रहे, ऐसी धर्म-भावना का जागरण उन्होंने किया था।

तात्कालीन समाज में बसे अभ्यवर्तीय तथा वराशीख जैसे असंयत, असंस्कृत लोगों को जीवन के ध्येय के प्रति उचित मार्गदर्शन करके उन्हें चेतनामय जीवन प्रदान किया। इसके फलस्वरूप फिर से सांस्कृतिक, सात्विक तथा तेजोमय जीवन की लहर दौड़ गई। बहुत बड़ा समाज उनका अनुयायी बन गया।

एकान्त जीवन जीने वाले भारद्वाजमुनि को, जब अपने कर्तव्य का ज्ञान हुआ तब उन्होंने ''जे हि विमान सब नगरी उबारी''। वाली बात को सिद्ध कर दिखाया।

तात्पर्यः- कर्तव्य भक्त की ओर दासाभिमानी भगवान ध्यान देते हैं उसे अपने कर्तव्य का भान कराते हैं तथा उसके द्वारा जन-साधारण के बीच ज्ञान की ज्योति जलाकर उनके जीवन को आध्यात्मिक बनाकर उनका कल्याण करते हैं। इसे ही हम ''रामवृत्ति'' कहते हैं।

* * * * * *

समर्थ-प्रभू-दास को वक्र देखे ।
हुआ विश्व में कौन ऐसा न दीखे ।।
प्रभू की लिला लोक तीनों बखानी ।
नुपेक्षे कभी रामदासाभिमानी ।। ३० ।।

नंदू तथा दीप्ति दो भाई बहन थे। उनके माता-पिता किसी दुर्घटना का शिकार हो चल बसे थे। दादाजी ने उन्हें बड़े ही प्यार से पाला पोसा। दादाजी ने उन्हें बड़े अच्छे संस्कार दिये। सुबह उठकर भगवान को प्रणाम करना तथा रात में सोते समय ईश्वर का स्मरण करना आदि आदतें उन्होंने बच्चों में डलवाई थी। जब नंदू अट्ठारह बरस तथा दीप्ति पंद्रह बरस की हो गई, उनके दादाजी का भी देहान्त हो गया। अब वे अनाथ बच्चे आपस में एक दूसरे का सहारा बन गए।

दीसी मूलतः आस्तिक स्वभाव की थी। सुबह-शाम ईश्वर की प्रार्थना करती थी। नंदू कुछ कुछ नास्तिक था अतः वह रोज़ उसका मज़ाक उड़ाया करता था। परन्तु दीप्ति को जीवन में ऐसे कुछ अनुभव आए कि उसका ईश्वर के प्रति विश्वास अधिकाधिक दृढ़ होता चला गया। उसका भक्ति भाव बढ़ता चला गया।

उस दिन नंदू अपने स्कूटर पर हमेशा की तरह दफ्तर के लिये घर से निकला। गली के मोड़ पर एक ट्रक अंदर की ओर मुड़ रहा था। उसमें लोहे की लंबी लंबी छड़े लदीं थी। ट्रक की दाँई ओर गली में इतनी जगह खाली थी कि नंदू का स्कूटर वहाँ से आगे निकल सके। नंदू उस ओर मुड़ा ही था कि बगैर कोई इशारा दिये ट्रक बाँई और घूम गया। नंदू तो

उन सलाखों के नीचे की ओर झुक गया पर उसे अपनी मौत सामने दिखाई दे रही थी। उसी पल उसे ईश्वर का स्मरण हो आया और जैसे किसी अज्ञात शक्ति ने उसे हौले से उन सलाखों के नीचे से स्कूटर सहित बाहर निकाल लिया। उसकी जान बाल बाल बच गई। वह घर लौटा और अपनी बहन से बोला, ''दीप्ति, तुम वाकई समर्थ रामदासजी की सच्ची शिष्या हो। तुम्हारी अपार भक्ति तथा श्रद्धा की वजह से मुझे जीवनदान मिला है। आज से मेरी भी श्रद्धा ईश्वर के चरणों में पूर्णतया समर्पित है। आज यदि ईश्वर ने मेरी रक्षा न की होती तो इस दुनिया में मेरी बहन तो सचमुच ही अनाथ हो गई होती।''

दीप्ति ने हंसकर जवाब दिया, ''भैया, श्रद्धा के बलबूते पर प्रत्येक कठिन पल को जीता जा सकता है। मात्र, अंधश्रद्धा कदापि न रखनी चाहिये।''

तात्पर्यः- जा को राखे साईंया, मार सकैना कोई।

* * * * * *

किये देवता मुक्त कारागृहों से ।
सजे हैं गुणों से यशों से बलों से ॥
जिन्हें ध्यारहे पार्वती शूलपाणी ।
नुपेक्षे कभी रामदासाभिमानी ॥ ३१ ॥

दया, क्षमा, शांति, करुणा तथा जया नामक पांचों बहनों का जीवन बड़े मज़े से चल रहा था। वे अपने आप में मगन जीवन बिता रहीं थीं। वे किसी की झंझट में भी न पड़तीं थीं। जिस किसी की भी उनसे दोस्ती हो जाती, उसका तो जैसे भाग्य खुल जाता। उसे मन:शांति का लाभ मिल जाता।

परन्तु इन दिनों एक नया संकट पैदा हो गया था। जैसे ही इन पांचों बहनों से किसी की मित्रता घनिष्ठता में बदलती दिखाई देती, उनके काम तथा लोभ नामक दुष्ट पड़ोसी इन सभी को बुरी तरह से परेशान करना आरंभ कर देते। अंत में इन सभी ने उस घर के मालिक ''सद्‌गुरु'' से इनकी शिकायत कर दी। अब सद्‌गुरु की कृपा से उन दुष्ट पड़ौसियों के कारनामों पर नियंत्रण सा आ गया। बाद में वहाँ और दो नए किराएदार आ गए जिनके नाम क्रमश: श्रद्धा तथा प्रयत्न थे। इन पाँचों बहनों ने इन नए लोगों को दुष्ट पड़ोसियों की आदतों से पहले दिन ही सूचित कर दिया और सावधान कर दिया। नए आये लोगों ने भी सद्‌गुरु नामक मकान मालिक से अपने निकट के संबंध कायम कर लिये और सद्‌गुरु ने भी उन्हें दुष्ट पड़ोसियों से कभी कोई तकलीफ न पहुँचने दी।

तात्पर्यः- वे भक्त जो पूर्णतया ईश्वर पर विश्वासपूर्वक निर्भर रहते हैं, भगवान कभी भी

उनकी उपेक्षा न्हीं करते हैं।

✹ ✹ ✹ ✹ ✹ ✹

अहल्या शिला राम ने मुक्त की थी ।
पदस्पर्श से दिव्य वो होगयी थी ।।
जिन्हें वर्णते श्रान्त हो वेदवाणी ।
नुपेक्षे कभी रामदासाभिमानी ।। ३२ ।।

महाराष्ट्र में संतों की परम्परा सदैव से बनी है। महान संतों की माला की एक मणि है संत माता "कान्होपात्रा"। ईश्वर के चरणों में उनका तन-मन सदैव से समर्पित रहा।

कान्होपात्रा का जन्म एक वेश्या की कोख से हुआ था। अपनी माता की छत्र छाया में वह बढ़ी-पली। अपनी माता के साथ कान्होपात्रा कभी कभी मंगलवेढा (महाराष्ट्र) में निजाम के दरबार में जाया करती थी। तब वह बालिका थी। उसके यौवन में पदार्पण करते ही राजा यानी निजाम की उस पर नज़र पड़ी और उसने कान्होपात्रा को अपनी हवस का शिकार बनाना चाहा।

रात-दिन ईश्वर चरणों में लीन कान्होपात्रा को बस में कर लेना कोई आसान काम न था। दिन बीतते गए। कान्होपात्रा ने अनेकों भक्ति रचनाओं की रचना की। तथा अपने मधुर कंठ से ईश्वर के दरबार में गया। निजाम ने उसे बस में करने के लिये कई चालें चलीं पर सब कुछ व्यर्थ ही रहा।

कान्होपात्रा प्रतिदिन मंदिर में दर्शन हेतु जाया करती थी। एक दिन जब वह मंदिर के अन्दर गई तो निजाम ने छल करके अपने सैनिकों द्वारा मंदिर के सब दरवाजे बंद कर दिये। उसे मंदिर में कैद कर दिया गया था। समय की गंभीरता को कान्होपात्रा ने पूरी तरह से समझ लिया तथा अश्रुपूर्ण नयनों से अपने भगवान के दर्शन किये। वहीं चरणों में अपने माथे को टेक दिया और दीन स्वरों में भगवान की प्रार्थना शुरू कर दी ....

हे ईश्वर, आप ही मेरे रक्षण करता हैं। मेरे प्राण तो कंठ से आ लगे हैं। हिरन के शावक को शेर की पंजे से बचा ले ईश्वर।

मुझे अपने पास बुला ले .... हे ईश्वर..... थोड़ी देर बाद मंदिर के अन्दर से आवाज़ आना बंद हो गई। सारे सुर थम से गए । सैनिकों ने मंदिर के द्वार खोले तब ईश्वर की मूर्ति के चरणों में कान्होपात्रा के निर्जीव शरीर को पाया। उसके प्राण-पखेरू तो कब के उड़ चुके थे।

तात्पर्य:- श्रद्धा के बल पर पत्तियों का भी उद्धार निश्चित जानें। दासाभिमानी भगवान कभी

भी भक्तों की उपेक्षा नहीं करते हैं।

* * * * * *

शशीसूर्य या दिव्य नक्षत्र माला।
बनी है प्रभू की यथा सृष्ट लीला॥
चिरंजीव दोनों किये दास ध्यानी।
नुपेक्षे कभी रामदासाभिमानी॥ ३३॥

भगवान की सदैव यही इच्छा रहती है कि भक्त का स्थान उनके हृदय में चिरंजीवी बन कर अडिग बना रहे। भक्त कोई इच्छा करे अथवा ना करे, भगवान सदैव उसका मान बनाए रखते हैं। अपने भक्त की उपेक्षा किसी भी हालत में भगवान नहीं करते हैं। सच्चा तथा विवेकी भक्त, भगवान से कभी कुछ नहीं मांगता। वह सदैव भगवान का सान्निध्य चाहता है। उसे हमेशा यह विश्वास बना रहता है कि भगवान उसके निकट है। भक्तों के प्रति सदैव जागरूक रहने वाले भगवान श्रीकृष्ण ने एक बार राधा से कहा, ''राधा, तुमने मुझसे कभी कुछ नहीं मांगा। फिर भी मैं तुम्हें कुछ देना चाहता हूँ। बोलो क्या दूँ?''

राधा ने बहुत अधिक लोकनिंदा सही थी फिर भी वह श्रीकृष्ण भगवान की अनन्य भक्त थी। उसने मन ही मन निश्चय कर लिया था कि वह भगवान से कभी कुछ नहीं माँगेगी। अत: वह बोली, ''हे कृष्ण, तुम तो मेरे ही हो न ! फिर मुझे और किसी चीज़ की क्या ज़रूरत?''

भगवान श्रीकृष्ण तब कुछ न बोले। परन्तु उनके मन में बार-बार यह बात उठती रही कि उन्हें अपनी परम भक्त राधा को कुछ ऐसा वरदान देना होगा जो अनंत काल तक बना रहेगा। एक दिन वे राधा से बोले, ''राधे, तुम्हारी इस नि:स्वार्थ भक्ति से मैं बहुत प्रसन्न हूँ और तुम्हें वरदान देता हूँ कि आज से जो भी मेरा भक्त, मेरा स्मरण करेगा तब मेरे नाम से पहले वह तुम्हारा नाम लेगा। जन साधारण को मेरी इस आज्ञा का पालन करना ही होगा। जब तक विश्व है, तुम्हारा नाम भी अमर रहेगा।'' उपर्युक्त वरदान के फलस्वरूप 'राधेकृष्ण' कहने का चलन तब से शुरू हुआ जो आज तक चल रहा है और विश्व के अंत तक चलता ही रहेगा।

इसी प्रकार का संकेत बालक ध्रुव की कथा भी कहती है।

''धन्य राधा! धन्य!'' बालक ध्रुव!

तात्पर्य:- सच्चे भक्त के प्रति भगवान भी गर्व की भावना रखते हैं तथा उन्हें चिरंजीवी बना देते हैं।

* * * * * *

कभी, वे नहीं भूलते है किसी को ।
करें क्या न श्रद्धा रही है हमीं को ।।
पुराण प्रतिज्ञा सदा है बखानी ।
नुपेक्षे कदा रामदासाभिमानी ।। ३४ ।।

बात उन दिनों की है जब "नरेंद्र" एक साधारण व्यक्ति के रूप में ही जाने जाते थे। उन्हें "स्वामीजी" नामक उपाधि प्राप्त नहीं हुई थी। नरेंद्र उस समय वृंदावन के पास गोवर्धन मेले में गए हुए थे।

"राधाकुंड में स्नान करने जब वे गए तब उन्होंने वहाँ पूर्ण एकान्त का अनुभव किया। उन्हें विश्वास हो गया था कि इस समय वहां आसपास कोई भी नहीं आएगा अत: उन्होंने अपनी एकमात्र कौपीन को धोया और पेड़ पर सूखाने के लिये डाल दिया। जब वे कुंड से स्नान कर बाहर आए तब वहाँ से कौपीन को गायब पाया। उन्होंने इधर-उधर देखा तब पाया कि एक बंदर उनकी कौपीन को लेकर ऊँची डाली पर बैठा है। वे बहुत अधिक परेशान हो गए। पसीने पसीने हो गए। उन्होंने बंदर से बहुत मिन्नतें की, हनुमानजी की कसम भी दिलवाई परन्तु बंदर ने कौपीन नहीं लौटाई। हताशा से स्वामीजी ने प्रायोपवेशन करने की ठान ली और एक गुफा खोजने लगे। वे घोर निराशा से ग्रसित हो गए।" अचनाक उन्हें सुनाई दिया, "योगिराज, कृपा कर के ज़रा रूक जाँए"। उन्होंने पीछे मुड़कर देखा तो एक आदमी भोजन से सजी पत्तल लेकर वहाँ आया था। उस आदमी ने पत्तल नीचे रख दी और चल दिया। नरेंद्र ने देखा कि पेड़ पर उनकी कौपीन लटक रही है और बन्दर का कोई पता नहीं। दूसरी और मुड़कर देखा तो आदमी भी गायब। पत्तल वहीं रखी थी।

नरेंद्र की आँख में यह सोचकर आंसू भर आए कि.....

"हर पल, हर जगह तेरा साथ है ....."

तात्पर्य:- जिन भक्तों के प्रति भगवान गर्व का अनुभव करते हैं, उन्हें वे संकट में से तार लेते हैं। अपने भक्त की वे कभी भी उपेक्षा नहीं करते हैं।

* * * * * *

तुम्हारे मनों में यथाभाव होगा
तथा देव होगा तथा लाभ होगा
अनन्योंसि रक्षा करे चापपाणी
नुपेक्षे कभी रामदासाभिमानी ।। ३५ ।।

सदा सर्वदा पास ठाड़े तुम्हारे ।
जरा देखते धैर्य हैं ईश प्यारे ॥
सुखानंद आनंद कैवल्यदानी ।
नुपेक्षे कभी रामदासाभिमानी ॥ ३६ ॥

दया सूर्य की चक्रवाक् मुक्ति पाता ।
उसी रीति से राम हैं दुःखहर्ता ॥
हरी भक्ति मेरी बने है सुहानी ।
नुपेक्षे कभी रामदासाभिमानी ॥ ३७ ॥

भक्ति योग में शुद्ध हृदय की बात कहते समय स्वामी विवेकानंद एक कहानी सुनाया करते थे -

बहुत पुराने समय की बात है। गोपाल नामक एक बालक था। उसके पिता का देहान्त हो गया था। माता बेचारी जैसे-तैसे गोपाल को पाल पोस रही थी। माता तथा पुत्र दोनों ही बहुत गरीब थे परन्तु माता का कुंवर कृष्ण पर पूरा विश्वास था। वे इसी विश्वास के साथ जी रही थी कि कृष्ण भगवान प्रत्येक कठिन समय में उन दोनों के सहायक हैं।

गोपाल बहुत छोटा था और उसे पाठशाला जाने के लिये जंगल को पार करना पड़ता था। रास्ते में उसे भय सताता था। अकेले जाने में उसे डर लगता था। अपने डर की बात उसने एक दिन अपनी माता से कही। वह बोला, मां, जंगल की राह में मुझे बड़ा डर लगता है। मेरे अन्य साथी या तो सवारी में जाते हैं अथवा उनके साथ कोई बड़ा व्यक्ति होता है। नौकर आदि भी होते हैं। मैं किस के साथ जाऊँ मां?''

गोपाल की माता पलभर के लिये सोच में पड़ गई और सोच विचार कर बोली, ''देखो बेटे, तुम्हें जंगल में डरने की कोई ज़रूरत नहीं है। वहाँ जगल में तुम्हारा बड़ा भाई बंसीधर रहता है। तुम्हें जब कभी डर लगे तुम उसे आवाज देना, वह अवश्य तुम्हारे साथ आएगा।''

श्रद्धामयी माता का गोपाल श्रद्धावान पुत्र था। दूसरे दिन जब वह जंगल से गुज़र रहा था, उसे डर लगने लगा। वह अत्यंत दीन स्वर में बोला, ''भैया बंसीधर, मुझे बड़ा डर लग रहा है। मां ने कहा था कि आप जंगल में हैं, आप जल्दी ही सामने आ जाइये।'' गोपाल की पुकार सुन कर झाड़ी में से एक अत्यंत सजीला गड़रिया बाहर निकल आया और बोला, ''गोपाल, तुम्हें डरने की कोई ज़रूरत नहीं है। मैं हमेशा तुम्हारे साथ हूँ।'' ऐसा कह कर बंसीधर ने उसे पाठशाला तक ला छोड़ा। संध्या समय भी बंसी भैया ने उसे जंगल पार करवा दिया। घर लौटते ही अपनी मां के गले में बाहें डाल कर खुशी से उसने सारा किस्सा कह

सुनाया। बंसीधर वाली बात सुनकर माता की आँखों से आंसू झरने लगे। गोपाल को बंसीधर रोज जंगल में मिलता रहा।

कुछ दिनों के बाद गोपाल के गुरुजी के घर कोई धार्मिक कार्यक्रम था। पाठशाला के अन्य बालक गुरुजी के लिये बहुत सारी वस्तुएँ ले आए। ऐसी वस्तुओं का जुटाना गोपाल के लिये सर्वथा कठिन काम था। अपनी गरीबी के प्रति उसे बहुत बुरा लगा। वह माता से माँगे भी तो क्या?

पाठशाला जाते समय उसने अपने बंसीभैया से अपनी समस्या कही तब बंसीभैया ने उसकी ओर मुस्कुराकर देखा और उसे एक कटोरी दूध की थमा दी और कहा कि वह यह दूध की कटोरी अपने गुरु को भेंट के रूप में दे दे। गोपाल पाठशाला पहुँचा तब उसने देखा कि अन्य साथी गण तो मँहगी वस्तुएँ लाए हैं। कोई फलों की टोकरी लाया है । तो कोई मिठाई भरी टोकरी । कुछ एक विद्यार्थी सोने के सिक्के लाए थे गुरु को अर्पण करने हेतु । बेचारा गोपाल सकुचा गया और थरथराते नन्हे हाथों से उसने वह दूध भरी कटोरी गुरुजी को अर्पण कर दी । उस अर्पण में बंसीभैया का प्यार तथा गुरु के प्रति भक्तिभाव था । गुरुजी को गोपाल की भेंट ज़रा भी पसंद न आई । उन्होंने कटोरी को हाथ में लिया और पास रखे बर्तन में ऊंडेल दिया । पर जैसे ही वे कटोरी लौटाने लगे, वह फिर से दूध से भरगई। फिर खाली किया.. पुनः भर गई । ऐसा कई बार हुआ। पास रखा बड़ा बर्तन दूध से भर गया। फिर भी कटोरी खाली न हुई । गोपाल की भेंट को देखकर पहले जिन बालकों ने उसका मज़ाक बनाया था अब वे भी मन ही मन समझ गए कि गोपाल द्वारा लाई गई भेंट सबसे श्रेष्ठ है।

गुरु जी ने पूछा, "गोपाल, यह कटोरी तुम्हें किसने दी?"

तब गोपाल ने बताया कि जंगल में रहने वाले मेरे बंसीभैया ने मुझे यह कटोरी दी है। गुरुजी बोले, "चलो जंगल, और दिखाओ हमें अपने बंसीभैया"।

गुरूजी तथा गोपाल जंगल पहुँचे। गोपाल ने अपने बंसीभैया को आवाज़ दी परन्तु वे नहीं आए। गोपाल ने कई बार आवाज़ लगाई परन्तु बंसीभैया का कोई पता नहीं। अब गोपाल रोने लगा। उसे गुरूजी से डर लगने लगा तब दीन स्वर में वह बोला, "हे बंसीभैया, तुम एक बार यहाँ आ कर बता दो कि दूध की कटोरी तुमने ही मुझे दी है, वर्ना गुरुजी सोचेंगे कि मैं झूठ बोल रहा हूँ"।

इतना कह कर वह सिसक सिसक कर रोने लगा। इतने में उस झाड़ी से मधुर एवं आश्वासनदायी गहन गंभीर स्वर सुनाई दिया, "गोपाल, तुम तथा तुम्हारी माता की निर्मल भक्ति के फलस्वरूप मैं तुम्हें मिलता रहा हूँ। दूध की कटोरी मैंने ही तुम्हें दी है, परन्तु तुम्हारे

गुरुजी के सामने मैं प्रकट होने में असमर्थ हूँ। यदि उन्हें मुझसे मिलना है तो उन्हें कई जनमों का पुण्य जोड़ना होगा।''

तात्पर्यः- भगवान मात्र प्रेम तथा भक्ति के प्यासे हैं।

* * * * * *

करूं प्रार्थना चित्त! मेरे सुनो हे
प्रभू तो स्वयं भक्त की बाट जोहें
अवज्ञा करो ना वृथा की अहं में
करो वास हे चित्त ! श्रीराम ही में ॥ ३८ ॥

जिसे वेद वेदांग गाते सुनाते ।
ऋषि ध्यान में हैं समाधान पाते ॥
मती चंचला दो उन्हीं के पदों में ।
अरे चित्त! मेरे रमो राम ही में ॥ ३९ ॥

सभी भांति के सौख्य का मूल जानो ।
वही लक्ष्य मानो वहीं बुद्धि ढानो ॥
विवेकी बनो ना फंसो कल्पना में ।
अरे चित्त मेरे! बसो राम ही में ॥ ४० ॥

सीता मैया नहा कर आईं थी। माथे पर बिन्दी लगा कर उन्होंने अपनी मांग सिन्दूर से भर ली। पास ही बैठे हनुमानजी बड़े ही आदर एवं कौतुक से मैया को निहार रहे थे। माँग में सिन्दूर देखकर उन्होंने बड़े ही भोले पन से मैया को पूछा, ''माता, मांग में सिन्दूर किस लिये भरा है आपने ?'' सीताजी ने मुस्कुराकर जवाब दिया, ''प्रभु राम की उमर लंबी रहे इस हेतु से मांग में सिन्दूर भरा है हमने''।

कुछ पल हनुमान जी सोच में पड़ गए और वहां से बाहर चल दिये। थोड़ी देर बाद जब अन्दर आए तब उनके समूचे शरीर पर सिन्दूर पुता था। माता को प्रणाम कर वे बोले, ''हे मैया, क्या प्रभु की आयु अब और बढ़ जाएगी?''

सीताजी ने जब यह सुना और देखा तब हनुमानजी की स्वामिभक्ति देखकर वे निहाल हो गईं और बड़े स्नेह से बोलीं, ''तुम्हारी स्वामिभक्ति तो बेजोड़ है हनुमान! तुम्हारे शरीर में सिन्दूर की वजह से हो रही जलन से मैं चिन्ता में पड़ गई हूं, अतः तुम सिन्दूर के ऊपर तेल लगाया करो ताकि देह में ताप भी न होगा और सिन्दूर भी बना रहेगा। अब तुम्हारे प्रभु

भी अमर हो जाएंगे।''

उन दिनों प्रभु रामचन्द्र जी के राज्याभिषेक की ज़ोरदार तैयारियाँ चल रहीं थीं। जिसे देखो वही काम में व्यस्त। हनुमानजी के पास कोई काम न था इसलिये वे सीताजी से बोले, ''मैया, प्रभु का राज्याभिषेक है। सभी लोग काम में जुटे हैं, परन्तु आप ने हमें कोई काम नहीं दिया है। क्या कारण है इसका?''

सीताजी ने कहा, ''हनुमान, तुम्हारे लायक कोई काम नज़र नहीं आ रहा है। तुम स्वयं ही जो करना चाहो करो।'' हनुमान जी पुनः सोच में पड़ गए। कुछ सोच कर बोले, ''माता, इन दिनों प्रभुजी का सतत जगते रहना आवश्यक है, अतः मैं सदैव उनके साथ रहकर चुटकियाँ बजाता रहूँगा ताकि वे निद्रा के आधीन न हो जाएं।'' यह कहकर हनुमानजी वहां से चल दिये। माता जानतीं थी कि प्रभु के निकट सदा बने रहने के लिये हनुमानजी ने यह तरकीब सोची है। हनुमानजी की स्वामी भक्ति की वे मन ही मन प्रशंसा करतीं रहीं।

जब विवेक-बुद्धि का उदय होता है तब बुरी वृत्ति का नाश हो जाता है और इधर-उधर भटकने वाला मन अपने आपे में आ जाता है। देहबुद्धि को मनुष्य बिसार देता है और निरंतर संतोष तथा मनःशांति का अनुभव होता है।

तात्पर्य:- जब चंचल मन पर अधिकार प्राप्त हो जाता है, उसे काबू में कर लिया जाता है तब ही सूक्ष्म का ज्ञान होता है और मनुष्य को जीवन दर्शन का साक्षात्कार होता है।

✸ ✸ ✸ ✸ ✸ ✸

फिरोगे घुमोगे नहीं सौख्य होगा ।
वृथा कष्ट ही कष्ट प्राप्त होगा ॥
विचारो जरा बोध लो आतमामें ।
अरे चित्त! मेरे रमो रामही में ॥ ४१ ॥

करो योग या याग या पाठ कोई ।
प्रभू प्राप्त होंगे सही मार्ग सोई ॥
जनोद्धार-सामर्थ्यशाली पदों में ।
अरे चित्त! मेरे रमो रामही में ॥ ४२ ॥

विमलाजी के दो पुत्र थे। ईश्वर का दिया सब कुछ था। धन-संपत्ति से घर भरा हुआ था। वास्तव में ऐसे घर की गृहिणी को बड़ा ही संतोषी, प्रसन्न एवं स्नेहमयी होना चाहिये।

विमलाजी को अपने स्वयं पर, पति पर तथा बेटों पर बड़ा ही गर्व था। अपने आगे वे किसी को कुछ न समझतीं थी। उनकी बातों तथा व्यवहार में घमंड झलकता था। उनके बड़े पुत्र का विवाह हुआ। घर में बहुत ही शालीन स्वभाव की बहू आई। विमलाजी रात दिन उसे कोसा करतीं। बहु की कोई बात उन्हें ज़रा भी पसन्द न आती। हमेशा यह कह कर वह बहू को अपमानित करतीं कि उनका बेटा, बहू की तुलना में लाख गुना अच्छा है। वे उसके मायके वालों को भी कोसती रहतीं। बहू का जीना उन्होंने दूभर कर दिया। परन्तु पढ़ी-लिखी समझदार बहू इन बातों को सुनकर अनसुना कर देती। उसने कभी भी अपनी सास को उलट कर जवाब न दिया। कुछ वर्षों पश्चात् दूसरे बेटे का विवाह हुआ। नई बहू तो स्वभाव से कुछ अधिक घमंडी थी। उसने अपनी सास को ही उल्टा सीधा कहना शुरू कर दिया। मतलब सास सेर तो बहू सवासेर सिद्ध हुई। घर में तनाव इतना बढ़ गया कि विमलाजी ने हार कर तीर्थ यात्रा के लिये चले जाना उचित समझा। इस पर छोटी बहू ने तीखे स्वरों में कहा, ''अच्छा ही होगा, घर से बला टलेगी।'' विमलाजी ने बहुत सारे तीर्थ-क्षेत्रों के दर्शन किये। बहुत समय तक बाहर रहीं। घर की याद उन्हें सताने लगी। उन्होंने यह भी जान लिया कि निरंतर भ्रमण में भी आदमी थक जाता है। त्रस्त हो जाता है। अब शरीर तथा मन से थक कर घर लौटीं। जैसे ही घर में कदम रखा, छोटी बहू उन पर बरस पड़ी, ''मिल गया भगवान? अरे ऐसों को भगवान भी कभी मिल सकता है भला!....''

छोटी बहू के निरंतर प्रताड़न से मुक्ति पाने के लिये विमलाजी ने अब धार्मिक ग्रंथों का पठन शुरू कर दिया। परन्तु आदमी पढ़े भी तो कितनी देर तक? परन्तु अब और कोई चारा न था। मन न लगने पर भी वे ग्रंथों का जबर्दस्ती पठन पाठन करतीं रहतीं। एक दिन उनके ध्यान में एक बात आ गई कि उनकी बड़ी बहू तो सदैव ही संतोषी लगती है। बहुत सोचने परखने के पश्चात् उनकी समझ में आया कि सदैव नीति का पालन करना, निःस्वार्थ सेवा करना तथा धर्म का पालन करना आदि विशेषताओं की वजह से ही उनकी बड़ी बहू सभी मायनों में संतोषपूर्ण जीवन व्यतीत कर पा रही है। धार्मिक ग्रंथों के पठन का आडंबर उसके पास नहीं है।

उस दिन के बाद विमलाजी के आचरण में बड़ा ही परिवर्तन हो गया। अब वे अपना अधिक समय ईश्वर के नाम-स्मरण में बिताने लगीं। उनका शेष जीवन शांतिपूर्ण रहा।

तात्पर्यः- धर्म तथा नीति के पालन से तथा अपने आप में झांकने से संतोष प्राप्त होता है। जहां हम हैं वहीं ''राघव नगरी'' हो जाती है। तीर्थ-क्षेत्रों के बजाय हृदय में बसे प्रभू के दर्शन करने से जीवन सफल हो जाता है।

* * * * * *

अरे चित्त! तू एक ही बात ठाने ।
हितों को, महाश्रेय को ठीक जाने ।।
प्रभू राम से भिन्न बातें न बोले ।
उसी आस में ध्यान में चित्त डोले ।। ४३ ।।

तोता नामक पंछी मनुष्य को कई कारणों से प्रिय है। उसका प्यारा हरा रंग, लाल रंग की चोंच और उसका बांकापन तो उसके मुख्य आकर्षण हैं हीं परन्तु इसके साथ ही उसका एक खास गुण यह भी है कि वह सिखाने पर मानव की बोली भी सीख लेता है। इस सीख की एक सीमा है। उसे हम जितना और जो रटवाएंगे, वह कंठस्थ कर लेगा। मनुष्य जाति के चार बोल रट कर बोल देने से तोता ज्ञानी नहीं हो जाता यह बात सत्य है। क्योंकि उसके पास विचार करने की शक्ति नहीं होती है। उसके पास अनुकरण का स्वभाव अवश्य है। जैसे उसे यदि गाली-गलौज सिखा देंगे तो वहीं रटता रहेगा। ईश-नाम सिखा देंगे तो वही रटन दिन भर रहेगी। इसलिये समर्थ रामदास कहते हैं कि क्या इस प्रकार का आचरण मनुष्य को शोभा देगा? कदापि नहीं। जिसे अपने हित की आस है, उसे वाणी के महत्व को अवश्य जानना होगा। वाणी का महत्व निम्न प्रकार से किया गया है:-

(१) परब्रह्म का मुख्य अंग है शुद्ध ज्ञान
परा-वाणी का वास है नाभि स्थान।

(२) पश्यंति से उपजे ध्यान
पश्यंति वाणी का हृदय है स्थान।

(३) मध्यमा शुद्धि मन की करे
मध्यमा वाणी कंठ के निकट बसे।

(४) जिह्वा के कर्मों का उचित फल मिले
जिह्वा-वाणी मुख के समीप रहे।

जब भी समय मिले, जिह्वा को ईश्वर के गुण-गान में लगे रहना ही उचित है। हाथ अपना काम करते रहें और जिह्वा तथा वाणी ईश चिंतन में लगी रहे तब ध्यान धारणा सहज ही हो जाती है। निजध्यान में रहकर परा-वाणी के महत्व को जाना जा सकता है।

तात्पर्य:- जैसी कथनी वैसी करनी लोकोक्ति को, मनुष्य दिन-रात ईश-चिंतन में रहते हुए, अपने निर्धारित कार्यों को करते हुए अपने विवेक को जागृत रखते हुए, सिद्ध कर दिखा सकता है।

✸ ✸ ✸ ✸ ✸ ✸

जनों में वनों में सदा मौन पालो
बड़े आदरों से कथा राम बोलो
जहां राम ना, धाम वो छोड़ देना
सुखों के लिये योग्य है वन्य होना ॥ ४४ ॥

बात पुरानी है। पॅरिस में एक छोटी बालिका रहती थी। उसका परिवार धनवान था। कहीं किसी चीज़ की कोई कमी नहीं थी। आराम से जीवन के सभी सुखों को भोगा जा सकने वाली स्थिति उस परिवार में थी। परन्तु बालिका का सारा ध्यान श्रीकृष्ण के चरणों में समर्पित हो गया था। उसकी हम उम्र सखियां जब कई प्रकार के खेल खेला करतीं, सैर सपाटे के लिये जाया करतीं, तब इसका मन श्रीकृष्ण भक्ति में लीन रहता। वह उनके गुणगान के अलावा कोई और बात कहती भी न थी। उसे सोते-जागते, स्वप्न में भी ईश्वर के दर्शनों का आभास होने लगा। इस प्रकार की आध्यात्मिक वृत्ति के लिये पॅरिस का वातावरण कदापि अनुकूल न था। जब वह बड़ी हुई, स्वयं निर्णय लेने के योग्य हुई, तब उसने अपने देश का परित्याग करने की ठानी।

मात्र आध्यात्मिक स्वप्नपूर्ति हेतु वह योगिनी २४ अप्रैल १९२० के दिन भारत में महायोगी अरविंदजी के दर्शनार्थ पांडीचेरी में दाखिल हुई। स्वामीजी के मार्गदर्शन में उन्होंने आध्यात्मिक दृष्टि से बहुत कुछ पाया। अपनी मातृ-भूमि ''पॅरिस'' में अपना सब कुछ त्याग कर मात्र प्रभूचरणों की आस में माताजी भारत में बस गईं।

तात्पर्यः- ईश्वर प्राप्त करने हेतु मनुष्य को सब कुछ परित्याग करने की इच्छा एवं तैयारी होनी चाहिये।

✸ ✸ ✸ ✸ ✸ ✸

जहां संगतीसे समाधान जाता ।
कुकर्मी विनाशी अहंकार आता ॥
अनेकों जनों को वही संग भाता ।
जहां रामसे टूटता सर्व नाता ॥ ४५ ॥

राजा परीक्षित बड़ा ही उत्तम राजा साबित हुआ था। सभी कार्य वह नियमों के अनुसार करता था। ऋषि मुनियों के प्रति आदर की भावना रखता था । प्रजा के प्रति उसके मन में अपार स्नेह था । इन्हीं कारणों की वजह से वह सभी का प्रिय राजा था । उस समय उसकी उम्र छोटी होने के कारण उसे जीवन के अनुभवों का कोई विशेष परिचय न था।

एक दिन अचानक उसके मन में अकेले ही शिकार खेलने जाने का विचार आया। महल के एक दालान में वहुत ऊँचाई पर एक मुकुट रखा उसने देखा । मुकुट की बनावट राजा को बहुत भा गई और तुरंत उसने उसे धारण कर लिया तथा अकेले ही जंगल की ओर शिकार हेतु निकल गया।

इधर-उधर बहुत घूमने पर भी राजा को शिकार न मिला। अंत में यहाँ वहां घूमते हुए वह ऊब गया। किसी से बातचीत करने का उसका मन हुआ। अचानक उसका ध्यान एक मुनी की ओर गया। वे ध्यान में मगन थे। राजा ने उन्हें आवाज लगाई परन्तु मुनिजी का ध्यान न टूटा। सदा संयमी राजा को अब धीरे-धीरे गुस्सा आना शुरू हो गया। वह मुनी को जोर जोर से बुलाने लगा, तब भी उनका ध्यान न टूटा। वहीं कुछ दूरी पर कुछ बच्चे खेल रहे थे और पास ही एक वड़ा सा मरा हुआ सांप पड़ा था। राजा ने वह सांप उठाया और मुनिजी के गले में डाल दिया और अपनी राजधानी में लौट आया।

कुछ समय पश्चात मुनि जी का ध्यान समाप्त हुआ और उन्होंने आँखें खोलीं। अपने गले में मृत सांप को लटका हुआ देखकर वे चकित रह गए। अपने अन्तर्मन से उन्होंने सारी बात जान ली। उन्होंने सांप को गले से उतारा और सीधे राजमहल की ओर चल दिये। इससे पहले वे राजमहल में कई बार आ चुके थे। जैसे ही राजा ने उन्हें देखा, उसे अपनी करतूत याद आ गई और वह शर्म तथा पीड़ा से पानी पानी हो गया। मुनिवर के चरणों में माथा रखकर राजा ने बड़ी ही करुणा से पूछा, ''हे मुनिवर, मेरी बुद्धि इस कदर भ्रष्ट कैसे हो गई? कृपया समझाएँ.... मुझे क्षमा करें .....।''

मुनिवर ने अपने दोनों हाथों से राजा को सहलाया और ऊपर उठने की आज्ञा दी। अपनी दोनों आँखों को बंद कर मुनि बोले, ''हे राजन तुम मूलत: अच्छे हो परन्तु तुमने जो मुकुट धारण किया था उसकी वजह से तुम्हारी मति भ्रष्ट हो गई थी। क्या तुम जानते हो वह मुकुट किस का है? वह दु:शासन का है। जब भीम ने उसकी जंघा को चीर कर रख दिया था उस समय उसके सर पर वह मुकुट था। उस दुष्ट अहंकारी का वह मुकुट भीम अपनी वीरता के प्रतीक के रूप में ले आया था और इस महल में उसे इसलिये ऊँचाई पर रख दिया था कि उसे कोई धारण न करे। अपने पूर्वजों की वीरता के स्मरण हेतु उसे इस महल में रखा गया है। हे राजन, उसे धारण करने से तुम्हारी मति भ्रष्ट हो गई थी। हमेशा याद रखो कि कुसंगति का परिणाम सदैव बुरा ही होता है।''

तात्पर्य:- संतगण हमेशा सत्संग को ही महत्व देते हैं।

✸ ✸ ✸ ✸ ✸ ✸

बिना राम के व्यर्थ जो काल बीता ।
गया मान लो घोर हानी कराता ।।
प्रभू नाम को भूलना है विपत्ति ।
जियो दक्षता से करो लक्ष्य प्राप्ति ।। ४६ ।।

परम पिता परमेश्वर की संकल्पनाओं से निर्माण हुआ है यह विशाल विश्व। हमें पग-पग पर उसके अस्तित्व की अनुभूति होती रहती है। बाह्य दृष्टि से दीखने वाली प्रत्येक वस्तु का विनाश निश्चित है। वह सारा नित्य न रह कर मात्र अनित्य है। परन्तु वह निरंतर बना रहेगा और वही परब्रह्म सत्य है। हम यूं भी कह सकते हैं कि परब्रह्म का दूसरा नाम सत्य है। तब फिर ऐसे अकाट्य सत्य का विस्मरण कैसा? वह तो चिंरतन सत्य है एवं स्मरण के ही योग्य है।

ब्रह्मचैतन्य श्री गोंदवलेकर महाराज का एक भक्त उनसे एक दिन बोला, ''महाराज, सांसारिक जिम्मेदारियाँ निभाने में बहुत सारा समय निकल जाता है, और जो थोड़ा सा समय मैं निकाल पाता हूँ उसे मैं ईश्वर के चिंतन अर्थात नामस्मरण में बिताया करता हूँ।'' यह सुन कर महाराज बोले, ''तुम जो थोड़ा सा समय निकाल पा रहे हो उसका तुम उचित उपयोग कर रहे हो। परन्तु जब अन्य कार्यों में लगे रहते हो तब भी भगवान का विस्मरण नहीं होना चाहिये। प्रत्येक कार्य को करते समय सदैव उसका चिंतन करते रहो। सारा जीवन सफल हो जाएगा।''

तात्पर्यः- वही सिद्ध पुरुष है जो किसी भी पल ईश्वर को बिसारता नहीं है।

✹ ✹ ✹ ✹ ✹ ✹

मनश्चक्षु से चक्षु से देव देखे ।
सदा भक्ति की ज्ञान की बात भाखे ।।
गुणी हो चले साधना मार्ग ठानी ।
वही धन्य है राम का दासप्राणी ।। ४७ ।।

सगुण पूजा के माध्यम से भक्त के हृदय में ईश्वर के निर्गुण रूप का निर्माण होता है और उस निर्गुण रूप के साकार होने पर भक्त को सगुण साकार रूप में भी निर्गुण परमात्मा के दर्शन होते हैं । जिस प्रकार से मनुष्य को ज्ञान प्राप्त हो जाने के पश्चात् भी देह-व्यवहार को निभाना ही होता है ठीक वैसे ही भक्त को निर्गुण ईश्वर की प्राप्ति के पश्चात् भी सगुण पूजा करते रहना परम आवश्यक हो जाता है। साधना तो करनी ही होगी। निर्गुण परमात्मा

की अनुभूति के पश्चात् ज्ञानी भक्त को प्रत्येक जगह पर यानी सजीव तथा निर्जीव के अन्दर भी मात्र चैतन्य ही चैतन्य का साक्षात्कार होता रहता है। वह किसी और बात को जैसे जानता तक नहीं। ऐसा चेतनामय भक्त अपने जीवन में निरंतर भक्ति मार्ग पर स्वयं चलता है तथा औरों के लिये भक्ति-मार्ग पर चलने की प्रेरणा बन जाता है, भक्ति मार्ग की राह पर अनेकों लोगों को चलवाता रहता है। वह अखंड महायोग के स्वप्न का जतन करता है, औरों के लिये। भजन गाता रहता है, औरों के लिये।

संत संगति सब जन बिगरै
बिगरै जन सब महायोगी बनै ॥

तात्पर्यः- सगुण-निर्गुण की सीढ़ियों को पार करते-करते भक्त ज्ञानी हो जाता है। ज्ञानी हो जाने पर भी वह सगुण पूजा की परंपरा को आजीवन निभाता रहता है।

* * * * * *

सदा ईश के कार्य में देह घोले ।
सदा जीभ से राम का नाम बोले ॥
स्वधर्मस्य हो वो चले तत्वज्ञानी ।
वही धन्य है राम का दास प्राणी ॥ ४८ ॥

बात बहुत पुरानी है। उन दिनों उत्तर प्रदेश में संत कबीर का बड़ा नाम था और महाराष्ट्र की संत परंपरा में उस समय संत जनाबाई का नाम उज्वल हो रहा था। वे संत नामदेव के यहां दासी का काम करतीं थीं। परन्तु वे किसी भी पल भगवान को नहीं भुला पाती थी। उसे उन्होंने अपना परम सखा मान लिया था। जनाबाई निर्भय थीं। अनन्य भक्त थी।

एक बार संत कबीर ने संत जनाबाई के दर्शन की ठान ली। वे महाराष्ट्र में उनके गाँव पधारे। गांव के बाहर कुँए पर दो स्त्रियाँ जोर जोर से झगड़ रहीं थीं। कबीर उनसे जनाबाई का पता पूछने का साहस न कर पाए। थोड़ी दूरी पर उन्हें दस-बारह वर्ष का एक बालक दिखाई दिया। उन्होंने उस बालक से जनाबाई के बारे में पूछा। बालक ने तुरंत उन दो स्त्रियों में से एक की ओर इशारा करते हुए कहा, 'वह क्या वहां खड़ी खड़ी लड़ रही है।' वह बालक वहाँ से चलता बना। कबीर को उसकी बात पर विश्वास न हुआ। अतः आगे चलकर उन्होंने एक आदमी से जनाबाई के बारे में पूछा। जवाब वही मिला। अब कबीर उन स्त्रियों के पास आए और जनाबाई को ओर देखकर बोले, "क्या आप ही जनाबाई हैं?"

तुरंत अत्यंत सौम्य स्वर में जवाब आया, जी हां, मैं ही जनाबाई हूँ। मुझे विट्ठल की जनाबाई कहते हैं। तब कबीर ने पूछा, "संत होते हुए लड़ाई झगड़ा कैसे भला?" तब जनाबाई

ने कहा कि यहां सामने कंडों के जो दो ढेर लगे हैं उन में से एक, यानी दांयी ओर वाला ढेर मेरा है और दूसरा इसका। परन्तु यह औरत इस बात से साफ इन्कार कर रही है कि यह ढेर मेरा है। ये कंडे मैंने खुद अपने हाथों से बनाए हैं।

कबीर से आगे वह बोली,

"मैं अब सिद्ध कर दूंगी कि यह ढेर मेरा है।"

जनाबाई ने दूसरी स्त्री से कहा - "गंगाबाई, तुम्हारे कंडों की कोई निशानी है क्या?" इस पर गंगाबाई बोली, "लो, और सुनो! कंडों पर भी कोई निशान बनाता फिरता है क्या? सारे कंडे तो एक ही जैसे होते हैं।" यह सुनकर जनाबाई तैश में आ गई और बोली,

"गंगा, काम तो सभी करते हैं परन्तु हर एक का तरीका अलग होता है। मेरे ढेर के प्रत्येक कंडे को अपने कानों से लगा कर सुन, उसमें से विट्ठल नामक नाद सुनाई देगा तुझे। यदि ऐसा न हुआ तो नाम बदल कर रख दूंगी अपना।"

जनाबाई के ये बोल आस पास की भीड़ ने भी सुने। गंगाबाई ने आगे बढ़कर एक कंडे को कान से लगाया तो उसे सचमुच ही विट्ठल-विट्ठल नाद सुनाई दिया। संत कबीर ने भी बात की सत्यता को आज़माया। वहां खड़े सभी लोगों ने अन्य कंडों को कानों से लगा कर इस बात की पुष्टि कर दी। जनाबाई का चेहरा इस पुष्टि तथा ईश्वर की भक्ति से दमक रहा था।

तात्पर्य:- सब धर्मों का धर्म।
स्व-स्वरूप में रहना ही स्वधर्म॥
जो इस प्रकार का जीवन जीता है वही परमेश्वर का धन्यदास होता है।

✸ ✸ ✸ ✸ ✸ ✸

यथा बोलता है तथा आचरे जो ।
अनेकत्व में देखता एक है जो ॥
भ्रमों का न ले मार्ग भक्ती सगूणी ।
वही धन्य है राम का दास प्राणी ॥ ४९ ॥

जिस के हृदय में सदैव ईश्वर का वास है और जो अपने सत्य बोलों का जीवन में आचरण करता है वह भक्त ही दुष्ट प्रकृति का नाश करने में सक्षम होता है।

"स्वराज्य मेरा जन्म-सिद्ध अधिकार है, और उसे मैं हासिल करके ही रहूँगा" वचन कहने वाले लोकमान्य टिळक एक सच्चे योगी पुरुष थे। योगी पुरुष का चरित्र हमेशा उज्ज्वल होता है। हम ऐसा भी कह सकते हैं कि जिसका चरित्र उज्ज्वल नहीं, वह योगी बनने के

योग्य ही नहीं। आत्मतत्व एक ही है इस बात को बाळ गंगाधर टिळक ने सिद्ध कर दिखाया है। स्वराज्य को ले कर जो बात उन्होंने कही थी, वह बात उनकी मृत्यु के पश्चात सत्य ही सिद्ध हुई। विविधता में एकता के दर्शन करने वाले उस महान योगी के आशीर्वाद के फलस्वरूप आज हम सभी भारतीय स्वतंत्रता के वरदान का आनंद ले रहे हैं।

तात्पर्यः- जो ईश्वर के भक्त होते हैं उनकी वाणी से निकले शब्द, उनकी मृत्यु के पश्चात् भी सच्चे साबित होते हैं।

✸ ✸ ✸ ✸ ✸ ✸

नहीं चित्त में काम नाना विकारी ।
उदासीन जो तापसी ब्रह्मचारी ॥
सदा तुष्ट ना लेश है तामसीनी ।
वही धन्य है राम का दास प्राणी ॥ ५० ॥

एक दिन बाळ गंगाधर टिळक कुछ लिख रहे थे। काम में निमग्न थे। पास ही उनके सचिव बैठे थे। कुछ समय पश्चात् सचिव को लगा कि बाहर कोई आया है। एक प्रौढ़ महिला कुछ काम से टिळकजी के पास आई थी। टिळकजी की आज्ञा से सचिव उन्हें बुला लाया। उस महिला को कोई फरियाद करनी थी तथा वे टिळकजी को ही अपना वकील नियुक्त करना चाहती थी।

टिळकजी अपने काम में वैसे ही मगन उनकी सारी बात सुनते रहे। एक बार भी गर्दन उठा कर ऊपर न देखा। उनका वकील पत्र भी टिळकजी ने स्वीकार कर लिया। महिला चली गई तब सचिव ने पूछा कि आपने उस महिला की ओर देखा तक नहीं, उसका वकील पत्र भी स्वीकार कर लिया। अब अदालत में आप उन्हें किस तरह से पहचान पाएँगे? तब टिळक जी बोले, ''यदि काम स्वीकारना है तथा उसे उत्तम तरीके से पूरा करना है तब उस व्यक्ति की ओर देखने का कारण भी क्या है? उसकी आवाज को मैं पहचान लूंगा। काम में स्त्री हो अथवा पुरुष, मुझे कोई फर्क नहीं पड़ता है।''

तात्पर्यः- जीवन में प्रति-पल जो विरक्त भाव से काम करता है वह ईश्वर की दृष्टि में सच्चा ब्रह्मचारी है और उसका सर्वश्रेष्ठ भक्त भी है।

✸ ✸ ✸ ✸ ✸ ✸

नहीं मत्सराग्नि न उन्मत्तता है ।
नहीं स्वार्थ कोई उपाधि नहीं है ॥

सुवाचा सदा बोलना नम्र वाणी ।
वही धन्य है राम का दास प्राणी ॥ ५१ ॥

बात नासिक नामक नगर की है। सोमेश्वर का विशाल मंदिर। पास बहती शीतल नदी। हरे भरे पेड़ों से सज्जित मनोहर परिसर। दर्शनार्थियों का आना जाना। बड़ा ही मंगलमय वातावरण।

वहीं एक वृक्ष तले बूढ़ी काशीबाई जामुन बेच रही थी। काशीबाई का चेहरा इस बात को स्पष्ट कर रहा था कि वह अत्यंत शांत एवं मृदु स्वभाव वाली औरत है और वह ईश्वर की अनन्य भक्त है। कुछ लोग उसके पास जामुन खरीदने के लिये आए। दुनिया की रीत ही अलग है। जामुन के उचित दामों के बावजूद किसी ने कहा, "इतने महंगे क्यों हैं? कुछ कम करो!" दूसरे ने कहा, "बहुत छोटे-छोटे हैं।" तीसरा बोला, "पुड़िया बनाने के लिये कागज तक नहीं?" काशीबाई ने सब कुछ शांतिपूर्वक सुन लिया। दाम भी कम कर दिये। चुन चुन कर बड़े-बड़े जामुन तौल भी दिये परन्तु फिर किसी ने कहा, "अब रुमाल में बंधवाने, पड़ेगे.... कागज भी नहीं है ..... दाग न पड़ जाएंगे रुमाल में?"

अब तक चुपचाप बैठी काशीबाई अत्यंत कोमल स्वर में बोली, "अपने रुमाल के दागों की परवाह है आप को .... मेरे जामुन को भला बुरा कहकर मेरे मन पर जो आघात किये हैं उसका क्या हिसाब है आपके पास? आदमी को सोच विचार कर बर्ताव करना चाहिये ....।"

उस कोमल स्वर की फटकार सभी को चकित कर गई। मन ही मन सभी ने लज्जा का अनुभव किया।

उस जामुन की टोकरी में भगवान शंकर की एक तसवीर रखी हुई थी। शंकर की तसवीर श्रद्धा तथा प्रेम का प्रतीक और तीसरी आंख मनुष्य के अहंकार को भस्म कर देने वाली .....।

सदा मग्न है तत्त्व की चिंतना में ।
फंसे ना कभी दंभ में तर्कटों में ॥
करे निर्मिता काहि संवाद बानी ।
वही धन्य है राम का दास प्राणी ॥ ५२ ॥

महान लेखक विक्टर ह्यूगो के अनुसार -

जग में अंधों की कोई कमी नहीं है। कंजूस आदमी अंधा है क्योंकि उसे रुपए के अलावा कुछ और दिखाई नहीं देता। रुपए को पानी की तरह खर्च करने वाला उड़ाऊ भी अंधा है क्योंकि उसे भविष्य के परिणाम नहीं दिखाई देते। रूपगर्विता भी अंधी है क्योंकि

उसे अपने वार्धक्य की कुरुपता दिखाई नहीं देती और अपने आप को महान ज्ञानी समझने वाला भी अंधा है क्योंकि उसे अपने अज्ञान का ज्ञान नहीं। ऐसे अनेकों प्रकार के अंधे विश्व में हैं।

सच्चा भक्त ईश्वर के प्रति श्रद्धामय होता है इसलिये वह बेकार के विवादों में नहीं पड़ता है। वह ईश्वर निर्मित विश्व के व्यापक रूप को देखता है, समझता है और परखता रहता है तथा विशाल धर्म-दृष्टि से सजग वह आत्म जागृति हेतु निरंतर भगवान के प्रति चिंतन मनन करते हुए आत्म-संवाद को साधता है। और इसीलिये वह ईश्वर का उत्कृष्ट सफल भक्त बन पाता है। औरों को भगवत्-भक्ति का मर्म समझाता है। वही उसका असीम आनंद है। उस सुख का मापन हो भी तो कैसे?

तात्पर्यः- बेकार के विवाद में न पड़ना चाहिये। ईश्वर पर निष्ठा रखते हुए अपने साथ और जनों को भी श्रद्धावान बनाने का प्रयत्न करते रहना चाहिये।

✹ ✹ ✹ ✹ ✹ ✹

वदे नम्र भाषा करे नित्य नेकी ।
सदा सत्यवादी रहे जो विवेकी ॥
कभी झूठ बोले नहीं जिस्कि वाणी ।
वही धन्य है राम का दास प्राणी ॥ ५३ ॥

जिसने जीवन भर सत्य, निष्कपटता तथा विवेक को अपनाया है वह लोकप्रिय हो जाता है और मरणोपरान्त भी उसकी लोकप्रियता वैसी ही बनी रहती है।

लोकमान्य टिळक का देहान्त मुंबई में हुआ। उनकी लोकप्रियता इतनी अधिक थी कि उनके अंतिम दर्शनों के लिये अपार जनसागर एकत्रित हो गया। अंतिम संस्कार हमेशा की दहनभूमि में करना असंभव था। ब्रिटिश सरकार को अंत में चौपाटी पर दहन संस्कार करने की अनुमति देनी पड़ी। परन्तु सरकार ने इस शर्त के साथ अनुमति दी कि वहाँ टिळक जी की मूर्ति कभी भी न रखी जा सकेगी।

हजारों की उपस्थिति में बड़े ही गमगीन वातावरण में दाह संस्कार सम्पन्न हुआ।

आगे चल कर एक आदमी ने जिसकी टिळकजी के प्रति अपार श्रद्धा थी, उस जगह पर प्रतिदिन शिवलिंग बनाना शुरू कर दिया। आगे जब सम्मय बदल गया, टिळकजी की मूर्ति की स्थापना की बात चली तब वही जगह तय हुई जहां पर प्रतिदिन शिवलिंग की स्थापना होती रही थी। जनमानस की प्रखरता से ब्रिटिश सरकार घबरा गई, डर गई और अनुमति मिल गई।

टिळकजी एक ओर सत्यवादी, सत्यप्रिय, विवेकी सिद्ध हुए तो दूसरी ओर उनके व्यक्तित्व की धाक भी थी। इस प्रकार का व्यक्तित्व भगवान के धन्य दास का प्रतीक है।

तात्पर्य:- टिळक के अनुसार -

"जिसने दूसरों के दुख-दर्द को जाना, समझा वही सच्चा शिक्षित कहलाता है। जुलमों को चुपचाप सहने का अर्थ यह कदापि नहीं कि सहने वाला बड़ा सहनशील है, ऐसी वृत्ति को परमार्थ भी नहीं कहा जा सकता, वह तो मात्र भीरुता हैं।"

✵ ✵ ✵ ✵ ✵ ✵

युवा काल में ही वनश्री लुभावे ।
नहीं कल्पनाजाल झूठा फंसावे ।।
दृढ़ी निश्चयी जो टलेना समानी ।
वही धन्य है राम का दास प्राणी ।। ५४ ।।

बचपन से अश्विनी का बर्ताव, आचरण अन्य बालकों की अपेक्षा भिन्न था। उसे गुड़िया खेलना, सहेलियों के साथ अन्य खेल खेलने में कोई रूचि न थी। अकेली बैठी बैठी वह किसी गहन विचार में डूब जाती। सबकी नज़रें बचा कर वह अकेले में कुछ सोचती रहती। किसी की अंतिम यात्रा के पीछे-पीछे निकल जाती। उसे शव से भय न लगता था। वह तो उसके साथ चल रहे जनसमूह से डरती थी।

आगे चल कर जब वह बड़ी हुई तब उसने जान लिया कि मरना तो सभी को है। फिर उससे भय कैसा? हमें तो अपना आचरण शुद्ध ही रखना चाहिये। उसे आसपास विचरते लोगों में बहुत सारे लोग अविवेकी ही प्रतीत होते थे। उसे इस प्रकार के लोगों के भविष्य की चिंता होने लगती।

ऊपरी तौर से वह सामान्य जीवन जी रही थी परन्तु अन्तर्मन में बसे विचारों की वजह से उसकी वैचारिक सतह काफी ऊंची थी। उसका विवाह भी हो गया । परन्तु उसके हृदय की बात को बहुत कम लोग समझ पाते। उसके विचारों की भिन्नता ऊंचे स्तर की थी। उसका अलगपन बेजोड़ था, सूक्ष्म था और वह हमेशा संतोष से परिपूर्ण दिखाई देती थी। उसे अंधश्रद्धाओं का आकर्षण कदापि न था । अत: लोग उसे नास्तिक समझते थे। परन्तु वास्तव में वह पूर्णतया विवेकशील अविचल और स्थिर थी।

वासनाओं के परे वह अलग जीवन जी रही थी। नि:स्वार्थ भाव से वह अपने आनंद को दूसरों के साथ बांट लेती थी। अपना काम वह पूर्ण श्रद्धा से करती रही। ऐसे लोगों के प्रति समर्थ रामदास कहते हैं -

न राखे कदा नष्ट आशा दुराशा ।
सदा जो रहे ईश्वरी प्रेम प्यासा ।।
ऋणी देव है भक्ति का जो सुहानी ।
वही धन्य है राम का दास प्राणी ।। ५५ ।।

निष्काम कर्मयोगी दास जब सर्वोत्तम की गहरी आस रखता है तब वह अवश्य धन्य हो जाता है।

संत जनाबाई वैसे तो एक गृहिणी थी जिसे सारे समय घर के कामों में व्यस्त रहना पड़ता था परन्तु प्रतिपल वे विट्ठल के नामस्मरण में बिताया करतीं थी। हाथ काम करते रहते परन्तु मन तथा जिह्वा विट्ठल नाम रटने में लगे रहते। उनके परिवार जनों को यह बात बिलकुल भी पंसद न थी। वे उसका मज़ाक उड़ाया करते। ईश्वर भक्ति में लीन जनाबाई कभी-कभी काम में देर लगा देतीं। सास को गुस्सा आ जाता और वह बहू के सर पर दुगना तिगना काम रख देती।

एक दिन सास ने बहुत सारा अनाज पीसने के लिये उससे कहा। उन दिनों मुँह अंधेरे उठ कर स्त्रियां घर में ही चक्की से अनाज पीसतीं थीं। अनाज अधिक होने की वजह से जनाबाई आधी रात को ही उठ बैठी। ईश्वर का नाम स्मरण करते करते चक्की पीसने लगी। कुछ समय पश्चात् थकी हारी जनाबाई को नींद ने घेर लिया और पीसते पीसते वह वहीं सो गई।

घर के सारे लोग भी सो रहे थे। चारों और शांति छाई हुई थी। भक्तों की भक्ति तथा स्नेह के एहसान तले दबा विट्ठल मात्र जग रहा था। विट्ठल को ज्ञात था कि यदि आटा न पिसा गया तो जनाबाई को उसकी सास बहुत भला बुरा कहेगी और बहुत सारा काम उसके सर पर थोप देगी। विट्ठल वहां आया और सारा अनाज पीस गया। नींद भरी जनाबाई की जरा भी नींद न खुली।

जब वे जागी तो भोर हो चुकी थी। परिवार के सभी लोग जग गए थे। सास की कर्कश आवाज़ ने उसे जगा दिया था। अब तो जनाबाई बहुत घबरा गई और दीन स्वर में बोली, "माँजी, मैं गलती से सो गई थी पर अब जल्दी-जल्दी सारा अनाज पीस देती हूँ, आप नाराज न हों।" बहू की बात सुनकर सास अचरज में पड़ गई क्यों कि चक्की की घरघराहट वह निरंतर सुनती रही थी। आटा भी पिस गया था।

जनाबाई की समझ में जब यह बात आई तो उसने आंखे बंद कर विट्ठल का स्मरण किया तब बंद आँखों वाली जनाबाई को विट्ठल के दर्शन हुए। विट्ठल बड़े स्नेह से मुस्कुरा रहे थे। मेरे लिये विट्ठल को कष्ट झेलने पड़े इस पीड़ा का जनाबाई ने अनुभव किया और उनकी आँखें बरबस बरस पड़ी।

तात्पर्य:- इस नरदेह को यदि सार्थक करना है तो परमपिता परमेश्वर का दास्यत्व स्वीकारना होगा तभी जीवन धन्य होगा।

* * * * * *

दुखी दीन पे जो सदा हैं कृपालू ।
कुमार्गी जनों पे सदा हैं दयालू ॥
नहीं चित्त में क्रोध सन्ताप हानी ।
वही धन्य है राम का दास प्राणी ॥ ५६ ॥

भारत के आध्यात्मिक इतिहास में संत तुकाराम का नाम बहुत ही आदर से लिया जाता है। अपने जीवन में उन्होंने अनेकों दुख झेले, बहुत सारे संकटों का सामना किया परन्तु फिर भी निरंतर वे विट्ठल के नाम का जाप करते रहे। उन्हें उस के दर्शनों की आस थी। जब अंत में उन्हें उस के दर्शन हो गए तब तो तुकाराम पूर्णतया विरक्त हो गए और बचा हुआ जीवन मात्र दूसरों की सेवा में बिता देने का संकल्प उन्होंने किया। 'जैसा बोले वैसा चले' वाली उक्ती के अनुसार उन्होंने अपना सब कुछ दीन-दुखियों के बीच बांट दिया। मूलत: वे गरीब ही थे इस पर उदारता इतनी अधिक थी कि दूसरों के बांटने में वे अपने बच्चों तक का ख्याल न करते। बच्चे बेचारे खाने तक के लिये तरस जाते। इस व्यवहार से पत्नी व्यथित हो जाती और उन्हें बहुत कुछ भला बुरा कहती। उनसे झगड़ पड़ती। इस लड़ाई झगड़े का इस महान भक्त पर कोई असर न होता। उनका स्वभाव सदैव ही शांत एवं सहनशील ही रहा। उन्होंने आजीवन कभी किसी से कठोर शब्द न कहे। किसी पर क्रोध न किया। वे कहते, सारा विश्व मेरा घर है और घट घट में मुझे ईश्वर दिखाई देता है।

तात्पर्य:- नाराज हो भी तो किस पर ? 'वह' सभी की आत्मा में बसा है।

* * * * * *

बनो धन्य श्रीराम का नाम लीजे ।
पराभक्ति ऊपासना नित्य कीजे ॥
उदासीनता तत्त्व सारांश जानो ।
खुला कार्य हो स्वच्छता श्रेष्ठ मानो ॥ ५७ ॥

जब हम समूची सजीव सृष्टि को देखते हैं तब उसमें हम सुव्यवस्था पाते हैं। एक नियम बद्धता को हम पाते हैं। करोड़ों प्रकार के जीव जगत में हैं परन्तु उन जीवों की रचना में नियमों का पालन है। यानी हाथी, घोड़ा, ऊंट जलचर आदि प्राणियों को देखने पर हम पाते हैं कि

उनके नियोजित अंग उनके नियत स्थान पर ही बने होते हैं। आँखों की जगह पर ही आंखें नाक की जगह पर ही नाक है। हमने ऐसा कभी न देखा होगा कि एक आँख माथे पर है और दूसरी घुटने पर ! कहने का अर्थ यह है कि जब जीव-सृष्टि नियमबद्ध है तब मानव जाति को, जिसे ईश्वर ने सोचने समझने की ताकत दी है, नियमों का पालन करने में क्या कठिनाई है? यदि मानव को कृतार्थ होना है तब जाति, धर्म के नियमों का पालन करते हुए भी उसे अलग प्रकार से जीना होगा। आसक्ति को त्याग कर उदासीन बनना होगा। और उदासीनता के आसरे भक्ति उपासना के मार्ग का निरंतर अनुसरण करना होगा।

तात्पर्य:- नियमित रूप से भक्ति उपासना करने से मनुष्य जीवन के प्रति उदासीन होता जाता है और अंत में मोक्ष को प्राप्त करता है। मुक्त हो जाता है।

* * * * * *

अरे पूर्व के पाप का अंश होगा ।
तभी व्यर्थ के भोग में चित्त लागा ।।
कहो रामका नाम निष्कामतासे ।
न हो कल्पना लालसा वासनासे ।। ५८ ।।

समर्थ रामदासजी ने दासबोध नामक ग्रंथ में दस लक्षणों का उल्लेख किया है।

१) आत्मविद्या के प्रति प्रेम।
२) लीनता ।
३) परांतर रखने से सर्वत्र प्रिय।
४) अंतर्बाह्य उन्मुक्त अर्थात स्वच्छ पारदर्शक ।
५) उच्च साहित्य का बड़े प्रमाण में कंठस्थ होना।
६) मुक्त वृत्ति ।
७) उत्तम गुणों के श्रेष्ठ अधिकारी।
८) वासना रहित।
९) अत्यंत क्षमाशील एवं शांत मन।
१०) मात्र दूसरों का भला करते रहने की उच्च आकांक्षा जो मन को संतोष प्रदान करती है।

उपर्युक्त लक्षणों का स्वीकार करते हुए, केवल कल्पना के जाल में न फंसते हुए बुद्धि को सूक्ष्म में ले जाते हुए ईश्वर का निष्काम चिंतन करते रहना चाहिये।

"हे शरीर एवं वासनाओं, हम एक समझौता कर लें। तुम हमें त्यागने को तैयार नहीं,

कोई बात नहीं, परन्तु यदि दूसरों का भला करने के लिये तुम्हारा साथ आवश्यक होगा तो हम तुम्हें स्वीकार करते हैं।''

तात्पर्यः- यदि वासनाओं को अपने वश में करना है तो निष्काम भाव से ईश्वर चिंतन में लग जाना होगा।

✸ ✸ ✸ ✸ ✸ ✸

अरे कल्पना क्या करे कोटि कोटि ।
वृथा बुद्धि नाचे न हो ध्येय प्राप्ति ।।
जिसे कामना रामजी की न होगी ।
कहेंगे उसे हीनबुद्धि अभागी ।। ५९ ।।

''माता'' के मंदिर के सामने वह चिरौंजी का थैला ले कर बैठा था। दिन नवरात्री के थे। भक्तजनों को प्रसाद के लिये चिरौंजी की आवश्यकता थी। समय भोर का था। जहां वह बैठा था वहां से उसे माता के दर्शन भी हो रहे थे। मंदिर में भीड़ के बढ़ने से पूर्व उसने अपना आसन वहां जमा लिया था और माता से मन ही मन प्रार्थना की हे माता, पहले गृहस्थी की चिंता से मुक्त हो जाऊँ तब परमार्थ का विचार होगा। इतना कह कर उसने आँखें बंद कर लीं और वह अपनी कल्पनाओं के विश्व में खो गया –

''भीड़ बढ़ रही है। पूरा थैला खाली हो गया है। अगले बरस तक माता की कृपा से यहीं पर एक छोटी सी दुकान लगा दूँगा। दूकान लगा देने पर सुविधा रहेगी। प्रतिवर्ष अधिक़ से अधिक लाभ होता रहेगा .... बड़े मज़े होंगे तब .....''

माता ने सोचा कि इसे जब तक कस कर झापड़ न पड़ेगा, यह होश में न आ पाएगा, अपना काम ठीक से न कर पाएगा। केवल स्वप्नों का जाल बुनता रहेगा।

किसी की चीख उसके कानों में पड़ी और वह हड़बड़ाकर जग गया। और उसके होश पल भर में ठिकाने आ गए। किसी ने उसका चिरौंजी वाला थैला चुरा लिया था। उसने अपना माथा ठोक लिया।

तात्पर्यः- भक्ति के मार्ग में भी कल्पनाओं की उड़ान तथा वास्तविकता का भान ठीक-ठीक रखना नितांत आवश्यक है।

✸ ✸ ✸ ✸ ✸ ✸

सुनो कामनावृक्ष या कामधेनु ।
सभी से प्रभु राम को श्रेष्ठ जानू ।।

बहुमूल्य चिंतामणि को बताते ।
नहीं राम के तुल्य है तुच्छ बातें ॥ ६० ॥

भक्ति के मार्ग पर चलने के पश्चात् जब उस भगवान के दर्शन हो जाते हैं, उस स्थिति का वर्णन शब्दों से परे है। इस प्रकार के असीम आनंद को अपने शब्दों में महान संत तुकाराम यूँ कहते हैं -

आनंद के सागर में
तंरगें भी आनंद हैं
आनंद का अंग भी आनंद ही है ......
इसी प्रकार से भगवान का एक परम भक्त, भक्ति के रस में डूबा हुआ गा रहा है ......
कैसे वर्णन करूँ?
हर सांस में आनंद ही आनंद है
सत्य फैलाएँ .... आनंद फैलाएँ
हर सांस को उसका अर्थ दिलवाएँ।
जागृत अवस्था में समाधि अवस्था में
निरंतर आँसुओं की झड़ी लगी है
रघुवीर समर्थ ..... जय जय समर्थ
की रट लगी है
अहंकार मिट गया है
वृत्तियां सिमट गई हैं
जन्म मृत्यु शून्यवत हो गए हैं ॥

तात्पर्यः- ईश्वर का कोई सानी नहीं है।

* * * * * *

खड़ा कामना वृक्ष के ठीक नीचे ।
पिटे भालको दुःख ही दुःख सोचे ॥
रखो कामना जो वही प्राप्त होगा ।
महामूर्ख को सौख्य कैसे मिलेगा ॥ ६१ ॥

उन दिनों भगवान बुद्ध के धार्मिक विषयों पर भाषण हो रहे थे। लोगों की भीड़ जमा हो जाती थी। सभी प्रकार के लोग वहां इकट्ठा होते थे। श्रद्धालू भी और अश्रद्धालू भी। भगवान

बुद्ध उन दिनों संत संगति महिमा को लेकर लोगों को अपनी मधुर वाणी में बहुत कुछ समझा रहे थे।

उन सभाओं में दो मित्र भी आया करते थे। उनमें से एक बहुत ही श्रद्धावान था तथा दूसरा श्रद्धाहीन एवं मसखरा था। वह बात-बात में अपने मित्र तथा भगवान बुद्ध के उपदेशों का मजाक बनाया करता था। श्रद्धालू मित्र शांति से सब कुछ सह लेता था।

एक दिन मसखरे ने अपने मित्र से कहा, ''मन:शांति की बात को बाद में देखेंगे, क्या तुम्हारे भगवान मुझे सोना दिलवा सकते हैं?'' मित्र ने कहा, ''वह स्थान भी क्या ऐसी वस्तुएं माँगने की जगह है? तुम्हें क्या पता कि वहाँ क्या मांगा जाता है? परन्तु फिर भी अपनी अकल के अनुसार तुम चाहो तो सोना मांग कर देख लो।''

दूसरे दिन वह श्रद्धाहीन व्यक्ति भगवान बुद्ध से नदी किनारे एकान्त में मिला और बोला, ''आप पर मेरी अपार श्रद्धा है। संत तो सारी इच्छाओं की पूर्ति करते हैं। क्या आप मुझे बहुत सारा सोना दिलवा सकते हैं?''

उसकी बात सुनकर भगवान मुस्कुराए और तुरंत बोले, ''क्यों नहीं? पीछे मुड़कर देखो, तुम्हारे पीछे बहुत सारा सोना अपने आप चल कर आ रहा है। तुम सारा सोना ले लो।''

उस ने पीछे मुड़कर देखा तो एक महाकाय अजगर अपनी पूरी गति के साथ उसकी ओर बढ़ रहा था। भगवान बोले ''इस सोने को जल्दी से पकड़ लो वर्ना हाथ से निकल जाएगा।'' उस को डर भी लगा और उस गिलगिले घिनौने प्राणी को देखकर घिन भी आई। अब उसने देखा कि महाकाय अजगर, दीवार में बने छोटे बिल में घुसने का प्रयत्न कर रहा है। वह घिनौने गिलगिला प्राणी महत् प्रयास के बाद उस बिल के अन्दर घुसने में सफल हो गया। जब उसकी सिर्फ छोटी सी पूँछ बाकी रह गई थी, उस ने ढाढस से उसे पकड़ कर खींच लिया। पूँछ का जो छोटा सा हिस्सा उसके हाथ में आया, वह वाकई एक सोने का छोटा सा टुकड़ा बन गया।

भगवान की परीक्षा लेने वाले श्रद्धाहीन व्यक्ति के हाथ केवल निराशा एवं विफलता ही लगी। उसे अपने आप पर क्रोध आया तथा शांत एवं स्मित मुद्रा में खड़े भगवान बुद्ध पर भी क्रोध आया।

स्वरूपानुसंधान की साधना करते समय अपने आचारों विचारों का पूरा ध्यान रखना चाहिए। यदि ऐसा न हुआ तो आए हुए मौके से हाथ धोने पड़ते हैं। सत् संगति मिलने पर भी यदि हम अपने आप में छिपे कुविचारों का साथ देते रहे तो हमारी अपार हानि होगी।

तात्पर्य:- मिथ्या विवाद से उपजते हैं मतभेद, मतभेदों से उपजती है अशांति, अशांति के साथ आता है दुख। दुख तथा अशांति दोनों ही ईश्वर से हमें कोसों दूर रखते

हैं। ईश्वर को प्राप्त करने की असीम इच्छा होने पर यदि पल भर के लिये भी उस के अस्तित्व के प्रति मन में आशंका ऊपजे तो सब कुछ व्यर्थ हो जाता है। इसीलिये स्वामी समर्थ रामदास कहते हैं -

नहीं स्नान संध्या नहीं पाठ पूजा ।
सभी पुण्य को जो कहे हैं चले जा ॥
रखी दृष्टि भेदैक चांचल्य लाया ।
इसी से महादुःख संताप पाया ॥ ६२ ॥

गृहे कामधेनु मठा मांगता है ।
प्रभूबोध को टालता जल्पता है ॥
रखा पास चिंतामणि कांच मांगे ।
अरे ठीक से सोच लेना अभागे ॥ ६३ ॥

नेपोलियन महान सम्राट हो गया है। वीरता, अहंभाव, सत्ता, संपत्ति आदि के आधार पर उसने सारे ऐहिक सुख प्राप्त कर लिये थे। एक खास नशे में वह जिया ऐसा मानना होगा। परन्तु सच तो यह है कि इस भौतिक सुख में कोई सार नहीं। इस मुखौटे वाले जीवन के जीने में उसे कितने ही लोगों से झगड़ा मोल लेना पड़ा था।

जैसे जैसे उम्र बढ़ती गई उसे सच्चाई का एहसास होने लगा। सारी शक्ति बगैर किसी सोच विचार के गलत ढंग से गलत मार्ग में ही खर्च हो गई। उसे इस बात का पश्चात्ताप होने लगा। मन:शांति भंग हो गई और अनायस ही वह अन्तर्मुख हो सोचने लगा। अब वह धार्मिक ग्रंथों में रूचि लेने लगा। जैसे-जैसे ग्रंथ पढ़ता गया, उसे अपने किये पागलपन का अधिकाधिक एहसास होने लगा। उस कुशाग्र बुद्धि वाले आदमी के मन में एक बात स्पष्ट हो गई कि यदि वह अपने समस्त तन,मन, धन तथा बुद्धि को इस शाश्वत मार्ग में पहले से ही लगा देता तो आत्म संतोष से वह कब का भर जाता।

इसी का अर्थ यह है कि शाश्वत समाधान देने वाले ईश्वर रूप कामधेनु के पास रहते हुए भी हम भिखारियों की तरह नश्वर दृष्य वस्तु रुप छाछ मांगते फिरते हैं।

तात्पर्य:- अपने आप में छिपे चैतन्य को जाने, परखे बगैर जब मनुष्य बाह्यसुख में झूठे ऐश्वर्य को प्राप्त करने की चेष्टा करता है तब वह निश्चित रूप से दारिद्र्य को भोगता रहता है।

* * * * * *

महामूर्ख को स्थैर्य ना प्राप्त होगा ।
जहां काम हो राम कैसे रहेगा ? ॥
जहां लोभ हो क्षोभ ही क्षोभ होगा ।
जिसे वासना हो अती दीन होगा ॥ ६४ ॥

अरे भक्ति से शून्य जीना भि क्या है? ।
महामूर्ख को दुःख ही भावता है ॥
स्मरो राम को चित्त प्रेमादिकों से ।
न हो वासना तुच्छ हेमादिकों से ॥ ६५ ॥

महा छोर संसार निःसार मानो ।
अरे चित्त ! खोजो जरा सत्य जानो ॥
विषैले फलों से महादुःख होगा ।
करो राम का ध्यान, सर्वस्व देगा ॥ ६६ ॥

धृतराष्ट्र पुत्र दुर्योधन महान पराक्रमी एवं ऐश्वर्यसंपन्न राजा था। पराक्रम तथा अपार धन के होते हुए भी वह अस्थिर एवं विकृत बृद्धि का इंसान था। जीवन के सर्वाधिक महत्वपूर्ण निर्णय के समय भी वह लाचार बन गया था। जिसके पास वह परामर्श हेतु जाना नहीं चाहता था, उन्हीं भगवान श्रीकृष्ण के पास उसे मजबूरन जाना पड़ा था। कोई और चारा भी न था। जीवन में पहलीबार सृजनशील शब्दों में भगवान से उसने पूछा, "हे कृष्ण, क्या इस युद्ध में मेरी जय होगी? इस जीत के लिये मुझे क्या करना होगा?" भगवान श्रीकृष्ण ने मुस्कुराते हुए जवाब दिया, "तुम बेशक जीत सकते हो दुर्योधन, मात्र एक काम करो, माता गांधारी से आशीर्वाद प्राप्त करो, जीत तुम्हारी ही होगी।"

दुर्योधन को यह सुनकर बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने सोचा कि जीत हासिल करने का यह सबसे सरल उपाय भगवान ने सुझाया है। वह तुरंत माता गांधारी के कक्ष में उपस्थित हुआ और झुक कर प्रणाम करते हुए बोला, "माता, इस युद्ध में जीतने के लिये मुझे सिर्फ आप के आशीर्वाद की आवश्यकता है, कृपा कर मुझे आशीर्वाद दें।" दुर्योधन की बात सुनते ही माता गांधारी दो कदम पीछे हटतीं हुईं बोली, "दुर्योधन, इस युद्ध के लिये मैं तुम्हें आशीर्वाद देने में असमर्थ हूँ।"

निरंतर चार दिनों तक दुर्योधन सुबह दोपहर शाम माता की बिनती करता रहा। अंत में माता ने दृढ़ शब्दों में कहा, "दुर्योधन, अनीति के अनुचित मार्ग के अनुसरण में तुम गंदे

कर्मों का विष प्राशन करते चले आए हो। वह विष तुम्हारी नस नस में पूरी तरह व्याप्त हो गया है। अब जब उसके दुष्परिणाम भोगने का समय आ गया है तब भी तुम कुमार्ग से बाज़ नहीं आ रहे हो। गलत ऐश्वर्य के प्राप्त करने की लालसा को जगाए हुए हो। भगवान श्रीकृष्ण के जवाब की गहराई भी तुम जैसा मूढ़ समझ न पाया। मैंने उस गहराई को समझ लिया है। पांडवों ने आजीवन प्रभु नामक अमृत का पान किया है इसलिये जीत के हकदार वे ही हैं। तुम्हारा साथ देकर मैं पाप की खाई में गिरना नहीं चाहती अत: तुम यहां से निकल जाओ।''

तात्पर्य:- जो विषय वासनाओं की ओर मुड़ कर इन्द्रिय सुख की लालसा रखता है उसकी मति भ्रष्ट हो जाती है। वह भटक जाता है। जीवन के अंतिम क्षणों में प्रयत्न करने से भी कुछ हासिल नहीं होता। यदि मन:शांति नहीं तो कैसा सुख? ''अशान्तस्य कुत: सुखम्।''

* * * * * *

घनश्याम श्रीराम सौंदर्यमूर्ती ।
महाधीर हैं शूर विख्यात कीर्ती ॥
पुकारो उन्हें संकटों को भगाओ ।
उष:काल में राम का रूप ध्याओ ॥ ६७ ॥

हमारी दादी सास जी मुँह अंधेरे उठतीं थी और नाम स्मरण में लग जातीं। हाथ अपना काम करते होते और मुख से अखंड जाप चलता रहता। उनकी भगवान पर अपार श्रद्धा थी। परिवार के सदस्य उनके इस निरंतर जाप का मज़ाक भी बनाया करते परन्तु वे इसकी ओर ध्यान न देते हुए अपने आप में मगन रहा करती थी।

हमेशा की तरह उस दिन वे सूरज निकलने से बहुत पहले उठ गई। हाथ मुँह धोया और बगीचे में फूल तोड़ने पहुँच गईं। मुख से नामस्मरण चल रहा था और पूजा हेतु हाथ फूल तोड़ कर डलिया में रख रहे थे। बेल फूलों से लदी थी। दादी जी का हाथ वहां तक पहुँच नहीं रहा था। अत: वे वहीं पर पड़े लकड़ी के बड़े मोटे लट्ठे पर चढ़ गई और फूल निकालने लगीं। जब सारे फूल निकाल चुकीं तो नीचे उतरीं। भोर का उजियारा अब चारों ओर फैल गया था। वे नीचे उतरीं तब उन्हें वह लट्ठा हिलता सा नज़र आया और वे चौंक गई। ध्यान से देखने पर पता चला कि वह लकड़ी का मोटा लट्ठा न होकर एक मोटा ताजा अजगर था जिस पर चढ़कर उन्होंने फूल उतारे थे।

परिवार के अन्य जनों को जब इस घटना का पता लगा तब वे आश्चर्य में डूब गए और उन्हें दादीजी के नामस्मरण तथा ईश्वर के प्रति अपार श्रद्धा के प्रति बहुत आदर प्रतीत

होने लगा।

तात्पर्य:- सुबह उठ कर नियमित रूप से भगवान के नामस्मरण करने वाले भक्त को भगवान संकट से तार देते हैं।

* * * * * *

असामान्य है राम कोदंडधारी ।
उन्हें देखते काल हो भीति धारी ॥
वृथा मानवों की न गाथा सुनाओ ।
उषःकाल में राम का रूप ध्याओ ॥ ६८ ॥

सुखानंद दे भीति को है भगाता ।
भजो मानवों जान लो श्रेष्ठ त्राता ॥
विवेक्से तजो दुष्टता को भगाओ ।
उषःकाल में राम का रूप ध्याओ ॥ ६९ ॥

कहो राम का नाम जो सर्व दाता ।
किन्हीं संकटों की सुनोंगे न वार्ता ॥
मदालस्य मात्सर्य छोड़ो जलाओ ।
उषःकाल में राम का रूप ध्याओ ॥ ७० ॥

कहो नाम तो हैं महादोष जाते ।
कुबुद्धी भगाते सुबुद्धी जगाते ॥
कहो नाम तो पुण्य राशि जुटाओ ।
उषःकाल में राम का रूप ध्याओ ॥ ७१ ॥

नहीं गांठ का द्रव्य देना पड़ेगा ।
नहीं कष्ट कोई उठाना पड़ेगा ॥
महाघोर संसार शत्रु भगाओ ।
उषःकाल में राम का रूप ध्याओ ॥ ७२ ॥

गुरु के आशीर्वाद एवं अनुग्रह के पश्चात् जब हम साधना में लग जाते हैं तब मन में बहुत सारी आशंकाएँ उपजतीं हैं और मन दृढ़ावस्था प्राप्त करने में असमर्थ सा हो जाता है। साधना में विघ्न निर्माण हो जाता है।

परमपूज्य गोंदवलेकर महाराज का एक शिष्य साधना में लगा हुआ था। नामस्मरण की साधना करते हुए बहुत दिन बीत गए और एक दिन अचानक उसके मन में विचार आया "जब मैं होश में हूँ तब तक यह साधना अवश्य निरंतर चलती रहेगी, परन्तु इस बीच यदि मैं बीमार पड़ जाऊँ, बेहोश हो जाऊँ तब तो साधना खंडित हो जाएगी। ऐसी स्थिति में मुझे कौन उबारेगा?" बस यही चिंता उसे खाए जा रही थी। वह इतना अधिक चिंता में पड़ गया कि उसकी नियमित साधना में भी रूकावट पैदा होने लगी। अंत में वह गुरू के पास गया और अपने मन में उमड़ रहे तूफान को उसने गुरु के सम्मुख रख दिया। गुरु महाराज ने उसे बड़े प्यार से समझाया, "देखो, होश में रहते हुए अखंड नामस्मरण करते रहो। यदि बीमार पड़ जाते हो अथवा बेहोश हो जाते हो तो उस समय नामस्मरण की पूरी जिम्मेदारी मेरी रहेगी।" वह शिष्य इस आश्वासन को पाकर बड़ा ही प्रसन्न हुआ और पूरे मनोयोग से अपनी साधना करने लगा।

कुछ दिनों पश्चात् वह सचमुच ही बहुत बीमार पड़ गया और एक दिन बेहोश भी हो गया। दवाइयां तथा इंजेक्षन से जब वह होश में आया तब उसने अपने करीब चिंतायुक्त परिवार जनों तथा डॉक्टर को पाया। वह बहुत कमजोर हो गया था। उसने फिर से तुरंत आँखें बद कर लीं। अर्धमूर्छित अवस्था में उसने अनुभव किया कि उसके शरीर में 'श्रीराम जयराम जय जय राम' का जाप निरंतर चल रहा है।

✸ ✸ ✸ ✸ ✸ ✸

बादशाहों के बादशाह नेपोलियन बोनापार्ट के मृत्युपत्र में बहुत ही गहरे विचारों की बात लिखी है। अपने मृत्युपत्र में उसने लिखा है, "मेरे निजी शब्दकोश में असंभव नामक शब्द नहीं है। मैंने अपने जीवन में जो कुछ भी चाहा, हासिल किया। परन्तु अन्त समय में एक बात विशेष रूप से ध्यान में आ रही है कि इन में से मैं अपने साथ कुछ भी नहीं ले जा सकूंगा। मैं जानता हूँ कि अन्त में मुझे खाली हाथों ही लौट जाना है। अत: मेरी अंतिम यात्रा के समय मेरे दोनों हाथ कफन से बाहर रखें जायें ताकि जनता इस बात को अच्छी तरह से जान ले कि नेपोलियन खाली हाथ आया था और खाली हाथ लौट गया है। सम्राट अपने साथ कुछ भी न ले जा सका है।" सिकंदर के बारे में भी यही कहा जाता है -

क्या लाया था सिकन्दर, क्या ले गया जहां से
थे दोनों हाथ खाली बाहर कफन से निकले।

✸ ✸ ✸ ✸ ✸ ✸

मातंग ऋषि भोर में नदी में स्नान करने निकल जाते थे। उनका मार्ग एक ही था। यानी वे एक रास्ते से ही स्नान करने निश्चित जाते थे। एक दिन उनके ध्यान में एक बात आई कि जिस मार्ग से वे जाते हैं उस मार्ग को प्रतिदिन कोई व्यक्ति साफ सुथरा बनाकर उस पर फूल बिछाए रखता है। उन्होंने अपने शिष्यगणों से पूछा तब ज्ञात हुआ कि यह काम वे नहीं करते हैं। मुनिवर ने जानना चाहा कि यह भावनापूर्ण सुंदर काम रोज़ रोज़ कौन करता है? उन्होंने यह काम अपने एक शिष्य को सौंपा।

दूसरे दिन शिष्य ने बताया कि इन दिनों इस ओर शबरी नामक एक भीलनी रहने आई है। वह सुबह सुबह भगवान के नाम का जाप करते करते रास्ते की सफाई तथा फूलों का सजाना, दोनों काम करती है। गुरुदेव के प्रति उसके हृदय में अपार श्रद्धा है। अपनी जाति एवं कुरुपता को ध्यान में रखते हुए वह मुनिवर के सम्मुख आने से कतराती है।

मुनिवर ने जब शिष्य से यह बात सुनी, उन्होंने तुरंत उसे बुलावा भेजा और पूरी ममता से उसे आशीर्वाद दिया।

तात्पर्य:- भोर में मनुष्य की नींद पूरी हो जाती है अत: शरीर भी हलका रहता है। वातावरण भी शांतिपूर्ण एवं आनंददायी होता है। ऐसे समय में तो नामस्मरण से सोऽहम् भाव को जागृत किया जाए। जो व्यक्ति इस अवस्था को प्राप्त कर लेता है उसके हृदय में स्थिरता तथा शुद्ध भावों की सुगंध फैल जाती है।

नामस्मरण नामक कामधेनु को सरलता से प्राप्त किया जा सकता है। समाज में 'हठयोगी' नामक साधक समूह भी है जिसमें देह को अपार तकलीफें पहुँचा कर साधना करनी होती है। साधक का इस साधना के पीछे एक ही अभिप्राय होता है कि शरीर को दुख पहुँचा कर देह की आसक्ति से छुटकारा पाया जाये।

✸ ✸ ✸ ✸ ✸ ✸

शरीरस्थ पीड़ा महादु:ख देती ।
कहो राम का नाम संपूर्ण जाती ।।
महादेव जी से यही पाठ पाओ ।
उष:काल में राम का रूप ध्याओ ।। ७३ ।।

राजपुत्र सिद्धार्थ के मन में विरक्ति की भावना जागृत हुई और उसने राजपाट तथा ऐश्वर्य को त्याग दिया और सत्य की खोज में वह निकल पड़ा। भौतिक सुखों को त्याग कर वह निकला अवश्य परन्तु ईश्वर को प्राप्त करने की किसी निश्चित् दिशा का उसे ज्ञान न था। सत्य की खोज के सटीक मार्ग का उसे पता न था। वह सोचता था कि जब तक देह को बहुत

अधिक पीड़ा न पहुँचाई जाएगी तब तक 'उस' का मिलना असंभव है। अत: उसने अपने शरीर को बहुत तकलीफें पहुँचाना आरंभ कर दिया। सत्य का यह मार्ग तो बड़ा ही विकट मार्ग है। उसके शरीर को आज तक सभी सुख सुविधाओं के बीच जीने की आदत पड़ी हुई थी। इस मार्ग ने उसे बहुत अधिक शारीरिक हानि पहुँचाई। वह कृश हो गया। बीमार हो गया। अपने निर्धारित ध्येय को प्राप्त करने में शरीर ने उसका साथ देना बंद कर दिया। इस के परिणाम स्वरूप उसके मन में घोर निराशा का उदय हुआ।

सिद्धार्थ ने हार न मानी। नए रास्ते की खोज में वह पुन: निकल पड़ा। बहुत अनुभवों के पश्चात् उसकी समझ में यह बात आ गई कि 'चिंतन' ही वह मार्ग है जिस पर चलकर वह अपने ध्येय को प्राप्त कर सकेगा। इसी मार्ग के अनुसरण करने पर वह महान् ज्ञानी हो गया तथा सिद्धार्थ से 'भगवान बुद्ध' बन गया।

* * * * * *

करे साधना, योग या दान देता ।
व्रतोद्यापनों में बड़ा खर्च होता ॥
स्मरो राम का नाम सर्वार्थ पाओ ।
उष: काल में राम का रूप ध्याओ ॥ ७४ ॥

सहस्त्रों रखीं विश्व में वस्तुएँ है- ।
जरा सोचलो सर्व का सार क्या है ॥
तजो संशयों को बिनाशंक होओ ।
उष:काल में राम का नाम ध्याओ ॥ ७५ ॥

समर्थ रामदास अपने शिष्यों से कहते हैं -

देव-दानव युद्ध के समय समुद्र मंथन में बहुत सारी वस्तुएँ निकलीं जिन में हलाहल भी था। अब इस हलाहल विष का प्राशन करे भी तो कौन करें? भगवान शंकर इस बात के लिये राजी हो गए। ऐसी कौन सी शक्ति थी जिसके आधार पर उन्होंने विष-प्राशन का साहस किया। वह शक्ति थी 'राम नाम' के निरंतर जाप की। वे जानते थे कि आजीवन किया गया जाप उन्हें विष-दाह से बचा लेगा।

जो भी व्यक्ति भक्ति भाव से इस नाम का निरंतर जाप करता रहेगा उसे भगवान समस्त दुखों से तार लेंगे।

कलियुग में प्रात: नामस्मरण ही मनुष्य, जीवन को तार लेगा। अन्य सभी साधनाओं

में यह अत्यंत सरल साधना है।

कलियुग केवल नाम अधारा।
सुमिरि सुमिरि नर उवरहिं पारा ॥ - तुलसी दासजी

तात्पर्य:- भगवान शंकर ने यह दिखा दिया कि नामस्मरण के आधार पर भारी से भारी विष भी पचाया जा सकता है।

✸ ✸ ✸ ✸ ✸ ✸

न हो कर्म या धर्म या दान थोड़ा ।
न हो भोग या योग या याग जोड़ा ॥
रखो नाम में पूर्ण विश्वास भाओ ।
उष:काल में राम का रूप ध्याओ ॥ ७६ ॥

दुनिया में कितने ही प्रकार के लोग हैं। प्रत्येक व्यक्ति का आचरण, आचार विचार भिन्न होते हैं। बचपन में किये गए संस्कारों का आगे चलकर बड़ा ही उपयोग होता है। परन्तु कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जिन्हें किसी भी प्रकार के संस्कारों से कुछ लेना देना नहीं होता। कर्म, धर्म, त्याग, सहिष्णुता आदि बातों को वे जीवन में उतार नहीं पाते।

बात कोंकण की है। मधुरा नामक एक बालिका थी। बड़े ही ऊग्र स्वभाव वाली इस लड़की ने कभी किसी संस्कार को स्वीकार न किया। वयस्क हो जाने पर भी वह अपने आचरण, आचार, व्यवहार से किसी को भी 'मधुरता' प्रदान न कर पाई।

बचपन से एक आदत थी उसे। सुबह उठते ही एक बार 'श्रीराम' कह कर हाथ जोड़ना और खाने से पहले थोड़ा सा चावल बाहर बैठे कुत्ते को खिलाना।

यह आदत आजीवन बनी रही। मधुरा आगे चल कर मधुराबाई बन गई पर व्यवहार में कोई मधुरता नहीं थी। बूढ़ी हो गई और एक दिन उसका देहान्त हो गया। यमराज के सामने जब उसका बहीखाता देखा गया तब यमराज ने पाया कि पाप ही पाप का खाता खुला हुआ है। पुण्य कर्म के पृष्ठ पर मात्र एक बिन्दु बराबर पुण्य लिखा हुआ था। यमराज बोले, 'इस औरत का बड़ा ही दुर्भाग्य है। यह तो मात्र पाप का फल भोगने लायक है। एक बिन्दु बराबर पुण्य इसे तार नहीं सकता। उन्होंने सेवकों को आज्ञा दी कि इसे कोड़े लगाएँ जाएँ।'

सेवकों ने मधुराबाई के पीठ पर कोड़े बरसाना शुरू कर दिये परन्तु उनके मुख से दर्द की एक भी चीख बाहर न निकली। यमराज बहुत ही आश्चर्य में पड़ गए। तब सेवक ने बताया कि जब भी उनके शरीर पर कोड़ा पड़ता है उससे पूर्व चावल के कुछ दाने बीच में आ कर उस वार को अपने पर सह लेते हैं और उन दानों पर 'श्रीराम' लिखा हुआ होता

हैं। इस चमत्कार को देख कर यमराज सहित सभी सेवक भी आश्चर्य में डूब गए।

तात्पर्य:- भोर के समय प्रतिदिन मात्र एक बार श्रद्धा से ईश स्मरण 'श्रीराम' किया जाये और बरसों तक इस नियम का पालन हो जाय तब अनजाने में किये गए सहस्त्र अपराधों का परिमार्जिन अपने आप हो जाता है।

✸ ✸ ✸ ✸ ✸ ✸

करो काम निष्काम श्रीराम जी का ।
अरे सर्व में रूप देखो स्वयं का ।।
बनो चित्र निर्द्वंद्व निस्वार्थ होओ ।
रमों कीर्तनों में सदा मस्त गाओ ।। ७७ ।।

अचानक पर्दा ऊपर उठ गया। क्षितिज प्रकाश से भर गया। सुस्पष्ट रूप से 'उस' का दर्शन हो गया और असीम कृतज्ञता की भावना से मन भर गया और मेरे अस्तित्व ने 'तुम्हारे' चरणों को आलिंगित किया। गहन तथा सर्वांगीण प्रसन्नता, आनंद की अनुभूति होते हुए भी सब कुछ स्थिर ही रहा। चंचलता का कही कोई नामो निशान नहीं।

जैसे सारे बंधन टूट गए हैं। देह का भान छूट गया है। संवेदनाओं, भावनाओं की श्रृंखलाएं टूट गई हैं ... प्रेम तथा प्रकाश में सरोबार मैं असीम आनंद से भर गई हूं ..... स्वच्छ, निश्चल पवित्र भावनाओं में डूब गई हूँ मैं .... मैं का अस्तित्व तथा 'अहं' भाव वाली भावना लेशमात्र न रह गई है ... मुझे अनुभूति हो रही है कि अब 'मैं' न रह कर प्रभु में सामायी 'वह' हो गई हूँ।''

– श्रीमाताजी – पांडेचेरी (आत्मकथन)

तात्पर्य:- जब मन 'उस' में एकाकार हो जाता है तब अपने आप द्वंद्वरहित अवस्था प्राप्त हो जाती है।

✸ ✸ ✸ ✸ ✸ ✸

जिसे राम में पूर्ण विश्वास ना हो ।
वही दु:ख से संकटों से घिरा हो ।।
महाराज है स्वामि कैवल्यदाता ।
वृथा ना करो देह संसार चिंता ।। ७८ ।।

समाज में कई लोग ऐसे भी दिखाई देते हैं जो सारे समय प्रसन्न होते हैं। खुश दिखाई देते हैं और परमसंतोषी प्रतीत होते हैं। ऐसे लोग समाज में आनंद बांटते दिखाई देते हैं।

ऐसे लोगों से यदि किसी ने प्रश्न पूछा कि आप हमेशा प्रसन्न एवं संतोषी किस तरह रह पाते हैं? तब जवाब मिलता है, 'आप लोग संतोष का अनुभव क्यों नहीं कर पाते इस बात का हमें आश्चर्य है। हमारा ईश्वर के प्रति दृढ़ विश्वास है कि समूचे विश्व को वह चलाता है। संसार के सुखों-दुखों के प्रति सोचने का उसे अवसर कहां? कभी मधुर तो कभी क्रूर, कभी ऊधमी तो कभी मज़ाकिया आदि गुणों भरा सूक्ष्म से लेकर विशालता को प्राप्त करने वाले विविध रंगों की समस्त चाबियाँ उस परम पिता परमेश्वर के हाथों ही तो हैं। जब इस ओर हमारा ध्यान सतत लगा रहेगा तब अपने आप अहंकार नष्ट हो जाता है और हम स्थायी आनंद को प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं।'

तात्पर्यः- जिसे भगवान पर विश्वास नहीं वह अपने समस्त सुखों को भी दुखों के रूप में भोगने लगता है। जब यह दृढ़ विश्वास हो जाएगा कि सब कुछ 'वही' करवाता है तब इस देह तथा संसार की चिंता कैसी?

* * * * * *

रखो भावना शुद्ध श्रीराम जी की ।
तजो सर्व संसारचिंता वृथा की ।।
अरे मोहमाया भ्रमों में फँसे हो ।
महावस्तुकी धारणा खो चले हो ।। ७९ ।।

अरे संसार संसार। जैसा केवडे का बन
धुंद सुगंध में उसकी। रहे भुजंग का भान ।।

अरे संसार संसार । नहीं सारी हरियाली
चांदनी के भरमाए । धूप बैसाखी चटकीली ।।

अरे संसार संसार । लोग राह सीदी सादी
काल पुरुष का सदा । याद रहे मन मांही ।।

अरे संसार संसार । रुपया मान मृगजल
उसके पीछे मत भाग । होगा लहू लुहान ।।

अरे संसार संसार । मत दौड़ उसके पीछे
सब कुछ असार । राम नाम मत बिसार ।।

अरे संसार संसार । लोग नाम रस कठिन
नारियल अंदर मीठा पानी । इसे मत बिसार ॥

तात्पर्यः- ईश्वर पर किया गया भरौसा, निर्दोष होने की वजह से पवित्र होता है परन्तु संसार मिथ्या है और उस पर का विश्वास भ्रामक है इसलिये विवेक से दोनों के बीच के भेद को जानो।

✵ ✵ ✵ ✵ ✵ ✵

भजो शंभु के पूज्य श्रीराम जी को ।
तरोगे भवाब्धि महादुस्तरे को ॥
जरा बीसरो पेटको दुर्भरे को ।
करो युद्ध मारो मदोंमत्सरों को ॥ ८० ॥

त्याग का साक्षात् उदाहरण श्री शंकर भगवान हैं। त्याग के फब्बारे से आनंद के पानी के तुषार बरसते हैं। क्रोध, स्वार्थ, मत्सर के अंगारे सब कुछ भस्म कर देते हैं।

सत्वगुणों वाला मनुष्य भगवान के दर्शनों के लिये इस कदर व्याकुल रहता है कि वह अपने भोजन वस्त्र आदि की चिंता नहीं रखता है। रजोगुण वाला मनुष्य सदैव इसी चिंता में रहता है कि प्राप्त स्थितियों में वह अधिक से अधिक लाभ कैसे प्राप्त कर सकेगा। दिन में एकाध बार भगवान को नमस्कार अथवा एकाध बार पूजा करता है और बचा हुआ सारा समय आर्थिक लाभों की विवेचनाओं, प्रयासों में बिता देता है। ऐसे लोगों का त्याग भी स्वार्थ लिप्त होता है। तमोगुण वाला मनुष्य अहंकार से भरा होता है। अपने 'अहं' के आगे वह और कुछ भी सोचने करने में असमर्थ होता है। रजोगुण वाले मनुष्य को सदैव इस बात का भान रखना होगा कि वह अपने पेट पालन की ज़रूरत से ज्यादा चिंता न करें, सत्वगुणों की मदद से मत्सर को पूर्णतया त्यागे और शंकर भगवान ने जिस राम नाम को अन्तर्मन में बसाया है उस नाम के सामर्थ्य को जाने, उस सामर्थ्य का अनुभव करे।

तात्पर्यः- शंकर भगवान के हृदय में बिराजे राम के महत्व को जान कर अपनी काया को ज्ञानार्जन में लगाना उचित है।

✵ ✵ ✵ ✵ ✵ ✵

नहीं मत्सरग्रस्त हो नाम छोड़ो ।
रहे पूर्ण श्रद्धा सदा ध्यास जोड़ो ॥

सभी सृष्टि में नाम ही सार मानो ॥
कहीं विश्व में तुल्य वस्तू न जानो ॥ ८१ ॥

नहीं राम के नाम के तुल्य कोई ।
अभागा बंधा जीव जाने न सोई ॥
महादाह से शंभु ने शांति पाई ।
वहां दु:ख सामान्य क्या बात भाई ॥ ८२ ॥

चंचल अहंकारी मन को बदलने के लिये 'नामरटन' ही उचित मार्ग है। परन्तु यह सब कुछ बौद्धिक सतह पर जानने से कुछ न होगा। उसे साधने के लिये कृति की आवश्यकता होती है।

गृहस्थी की प्रति तत्पर। परमार्थ में अनादर
जानबूझ कर ले आधार। वह एक पठित मूर्ख ॥ श्रीराम ॥

उपर्युक्त बातों को समझ कर भी जो उन्हें आचरण में नहीं लाता है उसे उन्हें पठित मूर्ख जानना ही उचित होगा। वह जानता समझता सब कुछ है परन्तु अपने आप को ज्ञानी समझने वाला ऐसा मनुष्य मत्सर तथा अभिमान की वजह से कृति करने में असमर्थ होता हैं। वास्तव में मनुष्य जन्म की सार्थकता यह जानने में है कि मैं कौन हूँ ? कहां से आया हूं ? मेरे जीवन का ध्येय क्या है? इन प्रश्नों के उत्तरों की खोज में उसे अपना सर्वस्व लगा देना चाहिये। इन प्रश्नों के उत्तरों को पाने का सरल मार्ग है निरंतर राम नाम का जाप।

नाम की महिमा अपार है। श्रीशंकर भगवान ने राम नाम का जाप अखंड किया है। 'राम' नाम के जाप से अहंकार का नाश हो जाता है। भगवान ने गीता में कहा है कि 'अहंकार को त्याग कर मेरे निकट आओ।'

राम रावण युद्ध के समय की बात है। लंका पर चढ़ाई करने के लिये पुल बनवाना जरूरी था। सारी वानर सेना बड़े-बड़े पत्थर लेकर सागर किनारे आई। बड़े से बड़ा, छोटे से छोटा पत्थर भी पानी में डूबने लगा। पुल बने भी तो कैसे? सभी वानर परेशान होकर हनुमानजी के पास गए और अपनी समस्या उन्हें बताई। हनुमानजी ने पल भर विचार किया। एक बड़ा सा पत्थर हाथ में उठाया और उस पर 'राम' का नाम अंकित कर पानी में डाला। आश्चर्य की बात यह कि वह पत्थर तैरने लगा। डूबा नहीं। राम के नाम का महत्व सभी वानरों ने जाना और 'श्रीराम' का नाम लेते हुए पूरे पुल को बना डाला।

तात्पर्य:- समर्थ रामदास कहते हैं -

हे मन, अतुलनीय अनमोल 'रामनाम' ही तुम्हारे लिये उज्वल भविष्य लेकर आया है।

* * * * * *

जहां काम दाही भजे राम जी को ।
सुनावे कथा भक्ति से पार्वती को ॥
उन्हें ज्ञान सामर्थ्य वैराग्य भी है ।
वहां राम में पूर्ण विश्वास भी है ॥ ८३ ॥

भगवान रामकृष्ण परमहंस भारत के आध्यात्मिक क्षेत्र के मुकुट मणि हैं।

चौबीसवें साल में उनका विवाह सात वर्षीय माता शारदा से हुआ। विवाह के पश्चात् सयानी होने तक वे अपने पीहर में रहीं। उचित समय में उनके माता पिता ने उनका गौना कर दिया और वे अपने ससुराल में आ गईं।

उस प्रथम रात्रि में भगवान रामकृष्ण ने उन्हें खूब अच्छी तरह से समझा दिया कि उनका आपसी संबंध क्या है और अन्त में उन्होंने शारदा माता के चरणों में अपना माथा टेक दिया। शारदा माता को वे 'जगदंबा' के रूप में देखते थे। जीवन के अन्त तक उनकी यह भावना जागृत रही, प्रफुल्लित रही।

तात्पर्य:- शंकर पार्वती की तरह यदि प्रत्येक पति-पत्नी 'राम नाम' के स्मरण जाप वाला सरल मार्ग अपनाएं तो कलियुग में भी वे अवश्य सुखी होंगे।

* * * * * *

विठोबा शिरोधार्य है राम माने ।
सँजोता मनों में वही मुक्ति ठाने ॥
सुनो चन्द्रमौलीश के शांतिदाता ।
स्मरो अन्त में राम ही मुक्तिदाता ॥ ८४ ॥

(विठोबा :- महाराष्ट्र के महान आराध्य देव सुप्रसिद्ध पंढरपुरके विट्ठल)

मेरे बड़े ससुर (ससुरजी के पिता) का सारा जीवन अपार दुखों संकटों से जूझने में बीत गया। परन्तु वे डगमगाए नहीं। हम उन्हें अण्णा कहा करते थे।

युवावस्था में अण्णा का विवाह हुआ। वे पांच छः वर्षों पश्चात् एक सात्विक बालक के पिता बने और उनकी गुस्सैल पत्नी का देहांत हो गया। उन्होंने दूसरा विवाह न किया और अपने बच्चे के लालन पालन में जीवन बिताने लगे। उनका ईश्वर पर पूरा भरौसा था और

वे निरंतर राम नाम का जाप करते थे।

जीवन में बहुत सारे दुखों के झेलते एक और संकट से उनका सामना हो गया। उनकी चचेरी बहन ने उन्हें बहका फुसला कर उनकी सारी सम्पत्ति हड़प ली। गरीबी का सामना करते हुए भी ईश्वर के प्रति उनका विश्वास दृढ़ था। जैसे जैसे उम्र बढ़ती गई शरीर दुर्बल होने लगा। बचपन से रही अस्थमा की बीमारी ने जोर पकड़ लिया। यथा समय उनके पुत्र का विवाह हुआ। उन्हें एक पोता भी हुआ।

आजीवन संकटों से जूझते रहने वाले अण्णाजी का अन्त समय आ गया। उन्होंने ईश्वर को पलभर के लिये भी न बिसराया था। अंतिम घड़ियों में उन्होंने अपने पोते को बुलाकर कहा कि रामदास लिखित 'दासबोध' की पुस्तक लाकर दिखाए। जब पुस्तक करीब लाई गई तब उन्होंने एक पृष्ठ खोला जिस पर लिखा था -

संसार सारे दुखों का मूल है
दुख के बिच्छुओं का शूल है।

उपर्युक्त पंक्तियों को पढ़कर उन्हें ऐसा लगा कि समर्थ रामदास उन्हें सजग सावधान करने आए हैं। उन्होंने धीरे से 'दासबोध' पोते के हाथ में सरका दिया और जीवन भर की आदत के अनुसार 'राम' नाम को जपने लगे। अंतिम समय में उनके होठों पर मात्र राम का नाम था।

तात्पर्य:- सांसारिक कर्म करते समय मनुष्य आजीवन जिस बात की रट लगाता है, अंतिम समय उसी रट के साथ वह चला जाता है।

* * * * * *

भजो राम विश्राम योगीश्वरों का ।
जपीका तपीका महारुद्रजी का ॥
स्वयं शांति पा शंभु है कीर्तिगाता ।
स्मरो राम को अन्त में मुक्तिदाता ॥ ८५ ॥

कहो राम विश्राम मानो वहीं है ।
सुखों की सदा हो सुवर्षा वहीं है ॥
बिना नाम के कष्ट संदेह पाओ ।
कहो नाम अस्थैर्य बाधा भगाओ ॥ ८६ ॥

अनुजा पुणे से बंबई जा रही थी। रेल में उसके सामने बैठी महिला के चेहरे पर दुख

एवं विषाद के मिश्रित भाव थे। अनजाने उसकी कहानी जाननी चाही। अपने माता पिता की कहानी उस महिला ने सुनाई -

माता का नाम रमाबाई तथा पिता का नाम माधवराव था। इस दम्पत्ति की पांच संताने थीं। दो लड़के तथा तीन लड़कियाँ। यथा समय सभी बच्चों के विवाह हो गए। पति पत्नी की जिम्मेदारियां पूरी हो गई थीं।

एक दिन उन्होंने अपने तीनों दामादों एवं पुत्रियों को भोजन पर आमंत्रित किया था। दोनों पुत्र तथा पुत्रवधुएँ घर पर ही थीं। आज खाने की लज्जत कुछ और ही थी। खास खास मिठाइयां बनीं थीं। माता-पिता कुछ अधिक प्रसन्न दिखाई दे रहे थे। इस भोजन के प्रयोजन के बारे में जानने के लिये सभी लोग आतुर तथा उत्सुक थे। भोजनोपरान्त सभी को बैठक के कमरे में बैठाया गया। रमाबाई तथा उनके पति अपने आसन पर बैठे। रमाबाई ने कहना शुरू किया - 'आज आप सभी को हम दोनों एक विशेष बात कहने वाले हैं। मैं जो कुछ भी कहने जा रही हूँ उसके बारे में मुझे कोई कुछ भी न पूछेगा। सभी को हमारी बात से सहमत होना होगा। यदि ऐसा न हुआ तो हम दोनों यही समझ लेंगे कि आप का हम से कोई स्नेह बंधन नहीं है। हम दोनों ने इस बात का निश्चय कर लिया है कि अब हम हमारा जीवन निराहार द्वारा समाप्त कर देंगे। हमने अपनी सारी जिम्मेदारियाँ पूरी कर लीं हैं। मंगलवार को नवरात्रि की घटस्थापना का दिन है। उस दिन पूजा के पश्चात् हम प्रसाद का भोजन ग्रहण करेंगे और उसके पश्चात् अन्न ग्रहण वर्ज्य कर देंगे।''

रमाबाई का निश्चय स्वर एवं उपर्युक्त कथन सुनकर सारा परिवार सन्न रह गया। परिवार के सभी सदस्यों ने उनके इस निश्चय में उनका पूरा पूरा साथ दिया। किसी भी कृत्रिम उपाय के बगैर कुछ ही दिनों में रमाबाई ने अपनी देह का त्याग कर दिया। अन्त समय में वे पूर्ण रूप से संतोषी एवं आनंदमयी लग रहीं थी।

पत्नी को अंतिम बिदाई देने के दूसरे दिन माधवराव ने भी अपने जीवन की अंतिम सांस ली।

तात्पर्यः- यदि मुख में राम का नाम निरंतर है तब अन्त समय में समस्त वासनाएँ क्षीण हो जातीं हैं और विश्राम प्राप्त हो जाता है।

* * * * * *

कहो राम तो काम बाधा न पावे ।
उसे योग्यता, इष्ट भी प्राप्त होवे ॥
भजे राम वो कामसंहार कारी ।
भला अंजनीपुत्र जो ब्रह्मचारी ॥ ८७ ॥

शिकागो की धर्म परिषद में स्वामी विवेकानन्द जी की बड़ी जय जय कार हो रही थी। समस्त जन उनकी असाधारण प्रतिभा से प्रभावित थे। हर तरह के लोगों से वे घिरे रहते थे।

एक दिन एक गौरांग कन्या उनके समीप आकर बोली, 'मैं हर तरह से उत्तम स्थिति में हूँ। मेरे जीवन में किसी भी चीज़ की कोई कमी नहीं है। मेरी एक ही इच्छा है कि मेरी कोख से आप जैसा पुत्र जन्म ले । अत: मेरा आप से नम्र निवेदन है कि आप मुझसे विवाह कर लें।'

स्वामीजी बोले, 'क्या सचमुच आप मुझ जैसे पुत्र की अभिलाषा रखतीं हैं? और स्वामीजी मुस्कुरा दिये। युवती को अपार हर्ष हो गया कि स्वामी जी तुरंत तैयार हो गए हैं। इस बात की उसने कल्पना तक न की थी। लज्जा से वह सिर को झुकाए खड़ी थी। उस युवती के चरणों पर माथा रखते हुए स्वामी जी बोले, 'हे माता, इसी पल से मैं आप का पुत्र हो गया हूँ।''

तात्पर्य:- विषयादि वस्तुओं तथा भावनाओं में जो लिप्त नहीं है वह धीरे-धीरे अपने आचारों विचारों से समस्त जग को जीत लेता है।

* * * * * *

सुहाता भला नाम श्रीरामजी का ।
बड़ा मिष्ट नि:शुल्क अल्पाक्षरों का ॥
करे नाश उन्मूल संसारमाया ।
मनुष्यों यही श्रेष्ठ कैवल्य छाया ॥ ८८ ॥

राम नाम तो अति सुंदर है। कोमल है और इसके जाप करते कोई खर्च भी नहीं है। वह समस्त वासनाओं का हरण करके भवसागर को पार कराता है। इस झूठे मायामय संसार में अपने कर्म करते करते यदि वाणी निरंतर उसका जाप करती है तो हम सभी दुखों से मुक्त हो जाते हैं। आनंद का अनुभव करते हैं। श्री समर्थ रामदास के एक परम प्रेमी प्रोफेसर बेलसरे ने एक किस्सा सुनाया। मुंबई निवासी एक सज्जन उनसे बोले, 'मुंबई का जीवन तो बहुत अधिक रफ्तार वाला है। आप लोग कहते हैं कि भगवान के नाम का जाप करो। बताइये इस भाग दौड़ में समय ही कहाँ मिलता है?'

बेलसरे जी ने पूछा, 'क्या आप प्रतिदिन लोकल से प्रवास करते हैं?'

'जी हां।' जवाब आया।

'कितनी देर तक लोकल में यात्रा करते हैं आप?' बेलसरे जी ने पूछा।

सज्जन बोले, 'कम से कम एक घंटा।'

'तब आप लोकल में गपशप करने के बजाय नामस्मरण किया करें।'

समर्थ रामदास कहते हैं,

चलते, बोलते, अन्य काम करते
खाते पीते भोजन करते।
विविध प्रकार के उपभोगों को भोगते
नाम का विस्मरण न रहे ॥

सुनो भोजनों में कहो नाम प्यारे ।
प्रभावी प्रदीर्घ स्वरों में उचारें ॥
गहो कौर तो श्री प्रभुनाम गाओ ।
दयालू प्रभू की कृपा पूर्ण पाओ ॥ ८९ ॥

साधना अवस्था में तथा सिद्ध अवस्था में आहार की ओर अति सूक्ष्म ध्यान देना आवश्यक है। सिद्धान्त यह कहता है कि प्रत्येक मनुष्य के चारों ओर उसका अपना निजी वलय होता है। मनुष्य जिस वस्तु को स्पर्श करेगा उस वस्तु में उसकी वृत्ति की छाप अवश्य पड़ती है। इसे ही संस्कार कहते हैं। सुसंस्कृत व्यक्ति के हाथों बना भोजन साधक के लिये तारक सिद्ध होता है । खाने की वस्तुएं दोष विरहित होनी चाहिये। क्योंकि उसका असर साधक पर अवश्य पड़ता है। पूज्य माताजी की साधना के आरंभकाल की कथा है -

'परम पूज्य योगी अरविंद की आज्ञा पालन करते समय माताजी के हाथों एक छोटी सी भूल हो गई। उनकी पुरानी पहचान वाले एक संस्कारित परिवार ने उन्हें भोजन पर आमंत्रित किया। परिवार के सभी सदस्य श्रद्धालु तथा संस्कारित थे। भोजन भी स्वच्छ एवं श्रेष्ठ प्रतीत होता था। उच्च वैचारिक सतह पर भोजन समारोह सम्पन्न हुआ। माताजी प्रसन्नता पूर्वक घर लौटीं।' कुछ समय पश्चात् माताजी के मन में बार-बार यह भावना उमड़ने लगीं कि उन्हें किसी को गला दबा कर मार डालना चाहिए। पल पल यह भावना तीव्रतम होती गई। वे घबरा गइ५ और स्वामीजी के पास जाकर उन्होंने अपनी भावनाओं को व्यक्त किया। योगीजी ने सारी बात को समझ लिया और बोले, 'आप आज जिस जगह भोजन करने गइ५ थी वहां का भोजन एक कसाई के हाथों बना हुआ था। चाहो तो जांच करवा लो। इसके बाद अब किसी के हाथों बना भोजन ग्रहण मत करना। यदि ऐसा समय आ जाये कि कोई चारा नहीं तब परोसे हुए भोजन को संस्कारित कर लेना।'

माताजी ने आजीवन इस आज्ञा का पालन किया।

तात्पर्यः- भोजन से पहले श्लोक कहने की प्रथा इसी बात को स्पष्ट करती है।

✸ ✸ ✸ ✸ ✸ ✸

नहीं बोलना नाम तो सर्व खोना ।
नहीं नाम से प्रीति तो व्यर्थ जीना ॥
कहें वेद भी शास्त्र भी नाम गाओ ।
यही व्यास की उक्ति का सार पाओ ॥ ९० ॥

रुको ना थको ना सदा नाम लेओ ।
यशःश्री जयोक्ती प्रभू की हि गाओ ॥
नहीं है गंवाना न देना टके का ।
करो घोष श्री जानकी के पती का ॥ ९१ ॥

श्रीमत् भगवत्गीता में अर्जुन ने कहा है-

परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान् ।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम् ॥
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवार्षिर्नारदस्तथा ।
असितो देवलो व्यासः स्वयं चैव ब्रवीषिमें ॥

अर्जुन ने कहा -

हे कृष्ण, आप परम पवित्र श्रेष्ठ हैं । भगवान व्यास सहित बहुत सारे प्राचीन ऋषि (जैसे- नारद, असित, देवल आदि) आप को व्यापक, अविनाशी दिव्य पुरुष मानते हैं। आप भी मुझे वही शिक्षा दे रहे हैं।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिं च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्तिमेऽमृतम् ॥

हे जनार्दन अब तु मुझे अपने योग तथा ईश्वरअंश के बारे में विस्तार से सब कुछ बताओ। तुम्हारी अति मधुर वाणी से एवं कथन से मैं तृप्त नहीं हो पा रहा हूं।

उपर्युक्त बिनती महर्षी व्यास ने भगवान श्रीकृष्ण के चरणों में की थी। व्यास बोले- मनुष्य को इस बात को गहराई से सोचना होगा कि जीवन में प्रत्येक कर्मेन्द्रिय का क्या वाकई उसने उचित उपयोग किया है? जैसे बुद्धि का प्रवाह क्या सचमुच में गंगा के प्रवाह से जा मिला है अथवा किसी गंदे नाले से?

नित्य कर्माचरण करते हुए निरंतर भगवान का स्मरण करने वाले अर्जुन ही निर्भयता पूर्वक ऐसे प्रश्न भगवान से पूछ सकते हैं। जवाब मिलता है -

अथवा बहुनैतेव कि ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।।

'हे अर्जुन (तुम मेरे प्रिय शिष्य हो) सारे प्रपंच को तुम क्यों समझने के प्रयत्न में हो? यह बात तुम्हारे जानने के लिये पर्याप्त है कि समूचे विश्व में मैं अंशत: वास किये हुए हूं।' इसीलिये स्वामी समर्थ कहते हैं कि व्यास मुनि के अनुसार परब्रह्म की सूक्ष्मता का ध्यान रखते हुए मानव ने अपने जीवन को उसके सहारे उबार लेना आवश्यक है। अर्थात् जो इस बात को नहीं स्वीकारता है उसका जीवन व्यर्थ है। वह मानव मनुष्य जन्म को प्राप्त कर के भी क्षुद्र ही सिद्ध होता है।

संतों के वचनों पर विश्वास रखकर नामस्मरण करने से जीवन सफल हो जाता है, अन्यथा सब कुछ व्यर्थ है।

हे मन, धेला पैसा खर्च किये बगैर साध्य होने वाली इस साधना के करने में तुम्हें क्या आपत्ति है? वगैर कष्टों एवं मेहनत के ही तुम्हें ईश्वर प्राप्त होगा, यदि इसका पालन करोगे।

तात्पर्य:- मनुष्य को जिस प्रकार से खाना, पीना, सोना ावश्यक है उतना ही आवश्यक नामस्मरण भी है। बार-बार इस उपदेश को सुनने से मनुष्य को ऊबना नहीं चाहिए, बल्कि नामस्मरण के महत्व को समझ कर उसे आचरण में लाना चाहिए।

* * * * * *

बड़े प्रेम से नाम का घोष होवे ।
वनों में गुफा में वही गूंज पावे ।।
प्रभू चाहते भक्त जो नाम गाता ।
विशेषत्वसे शंभु को राम भाता ।। ९२ ।।

वह लड़की पूर्णतया नास्तिक थी परन्तु अपने पति तथा परिवार पर उसका अपार प्रेम था। वह बहुत ही सरल स्वभाव की थी। किसी दिन उसके एक हितचिंतक ने उसे 'महामृत्युंजय' के जाप का आदेश ही दे दिया। वह इनकार न कर सकी। कई लोगों ने आश्चर्य से उसे इस जाप के कारणों के बारे में पूछा भी परन्तु उसके पास हमेशा एक ही जवाब रहता, 'किसी ने आदेश दे दिया है अत: मैं उस आदेश का पालन कर रही हूं। क्यों और कैसे का जवाब मेरे पास नहीं है।'

आगे चलकर इस मंत्र के सतत जाप करने की वह अभ्यस्त हो गई। रात-दिन, सोते

जागते मंत्र का स्मरण तथा जाप चलता रहा। दिन, महीने, गुज़रते गए। अचानक एक दिन उसके पति गंभीर रूप से बीमार पड़ गए। डॉक्टरों ने जांच की और वे आश्चर्य में डूब गए। बीमारी की गंभीरता इतनी अधिक थी कि किसी भी समय कुछ भी हो सकता था।

इतना सब होते हुए भी पत्नी निश्चिन्त थी। रात दिन के जाप पर विश्वास किये हुए थी। उस कठिन बीमारी से उसके पति को 'महामृत्युंजय' के जाप ने उबार लिया था।

जिस व्यक्ति ने उसे जाप के आदेश दिया था वे एक अच्छे ज्योतिषी थे। समय से उन्होंने बात को जानकर आदेश दिया था। उस लड़की ने भी बगैर किसी आशंका के तथा कारण जाने बगैर पूरी श्रद्धा से जाप किया और उसके दृढ़ विश्वास ने उसे उत्तम फल दिया। इस अनुभव के पश्चात वह ईश्वर के प्रति पूर्ण निष्ठावान हो गई।

तात्पर्य:-

पूज्य भाव से नामस्मरण ।
वहां भगवन् का अधिष्ठान ।
सारे दोषों का होता है नाश ।
श्रद्धा के बल पर ।। श्रीराम ।।

* * * * * *

**सभी जानते देव हैं अन्नदाता ।
यशः श्री सदानंद का है प्रदाता ।।
उसी को स्मरो तो तुम्हें कष्ट क्या है ? ।
कहो चित्त ! मेरे तुम्हें रोष क्यों हैं ? ।। ९३ ।।**

कलकत्ता जाने के लिये स्वामीजी डिब्बे में चढ़े । उनके भक्त ने पहले ही प्रथम श्रेणी के डिब्बे में उनका स्थान आरक्षित कर रखा था। वे अपनी जगह पर बैठ गये। सामने की आरक्षित सीट पर कोई धनवान सेठ-सिठानी बिराजे थे। उन्हें अपनी अमीरी पर शायद बड़ा ही गर्व था अत: अपने सामने वाली सीट पर बैठे स्वामीजी को देखकर उन्होंने नाक भौं सिकोड़ लीं। स्वामीजी के पास सामान आदि कुछ न था। तथा उनके जोगिया कपड़ों को देखकर सेठ-सिठानी ने उन्हें भिखारी ही समझा।

जैसे ही गाड़ी चल पड़ी पति-पत्नी ने अपने भोजन के बड़े-बड़े डिब्बों को निकाला और खाना शुरू कर दिया। स्वामीजी को खाना देना तो दूर, उनकी खाने पर नज़र न लग जाए इस भय से वे खाने को हर तरह से छिपाने के प्रयत्नों के साथ खाते रहे।

स्वामीजी के पास एक पैसा भी न था। प्रत्येक स्टेशन पर उतर कर वे नल का पानी

पी लेते थे। भूख तो उन्हें भी बहुत सता रही थी परन्तु वे करें भी तो क्या ? कलकत्ता जाने के लिये किसी हितचिंतक ने उनका टिकट आरक्षित कर दिया था यही उनके लिये पर्याप्त था।

जब सेठ-सिठानी भरपेट खा चुके तब उन्होंने धर्म तथा स्वामियों के प्रति भला बुरा कहना शुरू कर दिया। वे समझ रहे थे कि सामने बैठा संन्यासी वास्तव में भिखारी है । अत: उनके शब्द अधिक कटु और तीखे होते गये परन्तु स्वामीजी ने उस ओर कोई ध्यान न दिया। रात होने पर दोनों ने मोटी रजाई में अपने आप को लपेट लिया और स्वामीजी की ओर तुच्छता का कटाक्ष करते हुए आराम से निद्रा के आधीन हो गए।

स्वामीजी को उनके व्यवहार पर मन ही मन हँसी आई। वे 'माता' के बनाए इस विश्व को देखते रहे और मन में 'ओम् नम: शिवाय' का जाप करते करते भूखे पेट सो गए। सुबह के छ: बजे थे और गाड़ी किसी स्टेशन पर खड़ी थी । तीनों लोग जग गए थे। स्वामीजी को लगा कि यहां पर गाड़ी कुछ अधिक समय तक रुकेगी इसलिये वे दरवाजे में जाकर खड़े हो गए। इतने में उन्हें एक बात ध्यान में आई कि एक आदमी प्रत्येक डिब्बे में आतुरता से झाँक कर किसी को खोज रहा है। जब वह स्वामीजी के सामने आया तो वहीं अटक सा गया और उनकी ओर ध्यान से देखने लगा। दो-तीन पलों के पश्चात् वह अत्यंत नम्र वाणी में स्वामीजी से बिनती करने लगा कि वे नीचे उतरें और प्लेटफार्म पर बनी बैंच पर बिराजें। स्वामीजी के यह बताने पर भी कि वे उसे नहीं जानते, वह आदमी जिद करने लगा और अंत में स्वामीजी उसके आग्रह पर नीचे उतरे और सामने वाली बैंच पर बैठ गए। वह आदमी बोला, 'कल मेरे घर में 'कृष्णोत्सव' था। रात के बारा बजने के बाद वह सोया था। गहरी नींद में किसी ने उसे ज़ोर जोर से झकझोरा और जगाया तथा कहा ... जागो .... सुबह छ: बजे गाड़ी स्टेशन पर आएगी ... पहले दर्जे में एक स्वाभिमानी तेजोमय संन्यासी बैठे हैं... ध्यान से सुनो .... वह मेरा परम प्रिय शिष्य है ... वह कल से भूखा है ... जब तक उसके पेट में अन्न नहीं जाता, मैं भी तुम्हारा नैवेद्य स्वीकार नहीं कर सकता ... जल्दी से उठो, भोजन का थाल सजाओ ... छ: बजे गाड़ी स्टेशन पर होगी ... मेरे उस परम शिष्य को जो परमार्थी है उसे भोजन करवाओ। तुम जैसे 'लक्ष्मीधर' को उसकी सेवाका उचित अवसर मिले इतनी महान योग्यता है उसकी'

इतना कह कर वह उनके चरणों में लोट गया। भोजन का थाल उसने स्वामीजी के चरणों में रखा। इतनी ही नहीं, स्वामीजी के पूछने पर उसने स्वामीजी का सही सही नाम भी बताया। यकीन हो जाने पर स्वामी जी ने उस परम पिता परमात्मा की अगाध लीला की प्रशंसा करते हुए हाथ मुँह धोए और वह पवित्र भोजन स्वीकार किया। गाड़ी में बैठे पति

पत्नी ने यह सब कुछ अपनी आँखों से देखा और वे शर्म से पानी पानी हो गए।

* * * * * *

करे भस्म त्रैलोक्य जो कोप आवे ।
वही शंभु 'हे राम, श्रीराम' ध्यावे ॥
कहे नाम श्रीपार्वती विश्वमाता ।
अरे चित्त ! वो ही तुझे क्यों न भाता ॥ ९४ ॥

भगवान रामकृष्ण परमहंस काली मंदिर में वास करते थे। पूजा अर्चा के पश्चात् उनका अधिकतम समय भजन गाने में बीतता। बड़ी ही आर्तता से विनयपूर्वक तथा सुस्वरों में उनका भजन गायन होता था। उसके सुनने वाले सभी भक्तगण तो जैसे सब कुछ भूल जाते। उस असीम तल्लीनता की कोई तुलना नहीं।

भजनों का बखान जब रानी रासमणि तक पहुँचा तब उन्होंने भी भजन सुनने की इच्छा प्रकट की। उन्होंने रामकृष्णजी से नम्रता पूर्वक आग्रह किया और वे मान भी गए। सभी श्रोतागण भजनों के सुख सागर में आनंद से गोते लगा रहे थे। समूचा वातावरण भक्तिमय हो गया था। अचानक श्री रामकृष्णजी ने गाना बंद कर दिया और यह कहते हुए, 'यहां पर भी सांसारिक विचार?' रासमणि के मुँह पर दो-चार तमाचे जड़ दिये । इस अकल्पित घटना से सभी लोग सन्न रह गए। रानी ने समय की गंभीरता को, नौकरों चाकरों के क्रोध को पल में जान लिया तथा उनके (रानी के) मन में उमड़ रहे सांसारिक विचारों को स्वामीजी ने कैसे जान लिया इसका आश्चर्य भी उन्हें हुआ। तुरंत उन्होंने कहा, 'भट्टाचार्य जी का कोई अपराध नहीं है। उन्हें किसी भी प्रकार की तकलीफ न पहुँचे इस बातका ध्यान रहे।'

तात्पर्य:- ईश स्मरण से सभी प्रकार के दाहों का शमन होता है। माता पार्वती भी इस परमतत्व को जानने हेतु राम नाम का जाप करती हैं।

* * * * * *

लिया भूल से पुत्र का नाम जो था ।
प्रभू दौड़ आये समुद्धारकर्ता ॥
शुकोक्ति कही कूटिनी ने न जाने ।
मिली पुण्यराशि उसे स्वर्ग जाने ॥ ९५ ॥

\+ महापापी अजामिलने
X पिंगला वैश्या

महाभक्त प्रल्हाद था दैत्यवंशी ।
कहे राम नामावली पुण्यराशी ॥
पिता को नहीं पुत्र की भक्तिभायी ।
तदा स्तंभ से सिंह की मूर्ति आई ॥ ९६ ॥

श्री समर्थ महाराज बार बार जाप की महत्ता को समझाते हैं। जाप के महत्व का प्रसार करवाने वाले महासंत गोंदवलेकर महाराज भी थे।

उनके पास शिक्षित- अशिक्षित, छोटा-बड़ा, धनवान-गरीब आदि सभी प्रकार के लोग आते थे जिन्हें वे अत्यंत मधुरवाणी में सरलता से जाप की महिमा समझाते थे। अन्त में योग्यता प्राप्त करवा कर अपने भक्तों को, भक्ति के आध्यात्मिक मार्ग पर ले जाते थे।

चहुवर्ण नामाधिकार। छोटा-बड़ा बेड़ा पार
जड़ मूढ़ जावै उस पार । राम नाम का आधार ॥ श्रीराम ॥

श्री समर्थ रामदासजी ने अपने पौराणिक तथा ऐतिहासिक कथाओं का उदाहरण देकर नाम के महत्व को समझाया है। अपने 'आत्म अनुभव' के आधार पर भी उन्होंने इस महत्व को विशद किया है।

निरंतर नाम को जपो।
निरंतर उसका ध्यान करो।
नामस्मरण से मिलेगा।
आत्म समाधान ॥

तात्पर्य:- जो नाम जपै निरंतर । वह है पुण्य शरीर ।
महादोषों के गिरिवर । राम नाम मिटावैं ॥

* * * * * *

न जिह्वा कहे नाम तो मुक्ति कैसी ।
अहंता बने पैर में शृंखलासी ॥
न लो नाम तो अंत में कष्ट पाओ ।
कहो राम हे राम श्री राम गाओ ॥ ९७ ॥

अप्पा साहब का लड़का दुनियादारी की समझ कम रखता था। वह कम बुद्धि वाला था। अप्पा साहब ने एक होशियार तथा होनहार लड़की यशोदा से उसका विवाह कर दिया।

यशोदा ने घर की बागडोर बड़ी ही समझदारी से सम्हाली। उसका प्रत्येक काम नपा तुला था समय से होता था। पूरे तन मन से वह गृहस्थी चलाने लगी। ससुर उसकी प्रशंसा करते अघाते न थे। दिन बीतते गए। अपनी योग्यता पर यशोदा को गर्व होने लगा था। एक दिन अप्पा साहब अपने मन में पुत्र की तथा विपुल धन राशि की चिंता करते करते परलोक सिधार गए। यशोदा ने सारी जिम्मेदारी कुशलता से सम्हाल ली। परिवार बड़ा था। अत: मिलने वाली सफलता के साथ साथ अहंकार भी बढ़ता गया। ईश्वर का नाम मुख से शायद ही कभी यशोदा ने लिया हो। यदि बातचीत में यह मुद्दा कभी सामने आता तो यशोदा कहती, 'मैं मन ही मन निरंतर वासुदेव' का जाप करती रहती हूं। समय बीतता गया। अब यशोदा को लोग यशोदाबाई कहते क्योंकि उम्र बढ़गई थी और घर नाती-पोतों से भर गया था। आज भी घर की छोटी-छोटी बातों की ओर यशोदाबाई का ज़रूरत से अधिक ध्यान रहता। जिस उम्र में ईश्वर के प्रति अनुराग बढ़ना चाहिए उस उम्र में भी वे गृहस्थी की चिंताओं झंझटों में लिप्त थी।

उनका अंत समय आ गया। सारे रिश्तेदार चारों ओर बैठे थे । वे अपनी क्षीण दृष्टि से सब को देख रही थीं। उनका ध्यान आंगन में था और वे कुछ बुदबुदा रही थी। उनकी बुदबुदाहट इतनी क्षीण थी कि कोई कुछ समझ नहीं पा रहा था। सब ने समझा वे 'वासुदेव' का जाप कर रहीं हैं। सभी लोग उनकी ओर श्रद्धा एवं आदर भाव से देख रहे थे। उन्होंने लड़के की बहू को बुलाकर बारबार कुछ कहने का प्रयास किया और बार बार उनका ध्यान खुले आंगन की ओर जा रहा था। बहुत देर के पश्चात् लोगों की समझ में यह बात आई कि आंगन में गाय का बछड़ा झाड़ू खा रहा था। इसी बात से यशोदाबाद परेशान थीं। यानी अंत समय में भी सांसारिक चिंताओं में वे लिप्त थीं। मन में ईश्वर के प्रति अनुराग बढ़ाने के बजाय यशोदाबाई ने वृथा अहंकार को ही बढ़ावा दिया था। इसीलिये उनका अंत भी हास्यास्पद एवं दीनता से परिपूर्ण हुआ।

तात्पर्य:- अंते मति सा गति।

* * * * * *

प्रभू नाम ने पत्थरों को तराया।
सहस्त्रों जनों ने समुद्धार पाया॥
उसी नाम को जो न विश्वासकर्ता।
उसे मान लो पूर्वका पाप कर्ता ॥९८॥

महाक्षेत्र काशी मिले पुण्यराशि।
बशर्ते वहां के बनोगे निवासी॥

कहीं भी, रहो राम का नाम बोलो ।
कहा शंभुने है स्वयं शब्द तोलो ॥ ९९ ॥

परमपूज्य गोंदवलेकर महाराज से उनके शिष्यों ने बिनती की कि पास के गांव में वे उनके साथ चलकर स्वयं देखें, एक कसाई गायों की किस कदर हत्याएँ कर रहा है। महाराज उस गाँव में पहुँचे और बात को सत्य पाया। उन्होंने कसाई को समझाया, 'गाय देवता है। उसे मार कर तुम्हें क्या मिलेगा? उनका भी मन है। वे सब कुछ समझती हैं। उन्हें तुम मत मारो। क्या तुम्हें उनकी आंख में आँसू दिखाई नहीं देते?' कसाई बोला, 'महाराज, गायों को भी भला कोई बात समझ में आती है? वे तो जानवर हैं।'

महाराज वहां से हट कर दूरी पर जा खड़े हुए और बड़े ही प्यार से उन गायों की ओर हाथ फैला कर उन्हें अपनी ओर पुकारना शुरू कर दिया। छोड़ी ही देर में सभी गायें उनकी ओर दौड़ कर पहुँच गईं। इस दृश्य को देखकर उस कसाई सहित अन्य सभी लोगों की आँखों में आंसू आ गए।

गोंदवलेकर महाराज जैसे पुण्यात्मा के निकट रह कर कई लोगों ने अपना लोक एवं परलोक दोनों ही सुधार लिये।

तात्पर्यः- महान संतों का सान्निध्य किसी तीर्थ क्षेत्र के बराबर होता है।

* * * * * *

यथा सांग है कर्म में कष्ट भारी ।
रहे न्यून तो हो वही तापकारी ॥
दयायुक्त भूतार्थ ना आचरोगे ।
अरे मूर्ख निःशुल्क ना नाम लोगे ॥१००॥

न लें नाम तो काल है दण्ड देता ।
वृथा संशयों से बड़ा दुःख पाता ॥
स्मरो प्रेम से जो महासौख्यकारी ।
कहो नाम जो सर्वदोषोपहारी ॥१०१॥

जब जीव जन्मता है तभी से वह पिछले जन्म के कर्मों की गठरी साथ लेकर आता है। इस जीवन में यदि गठरी में रहे दोषों को दूर किया गया तो अगला जन्म उस बची हुई गठरी के साथ निश्चित् ही होगा। जन्म के फेरों से मुक्ति पाई जा सकती है। जन्मते ही तीन प्रकार के ताप साथ रहते हैं। आध्यात्मिक, आधि-भौतिक तथा आधिदैविक। इन तीनों प्रकार

के तापों का कारण वह जीव स्वयं ही है। यदि नाम साधना को किया जाय तो इस आवागमन से मुक्ति मिल सकती है। अपने विवेक को जगाकर काम करना होगा। बबूल के पेड़ से हज़ारों बीज धरती पर गिरते हैं और नए पौधे ऊगते हैं। कितनी ही सफाई करो, बात खत्म नहीं होती। यदि हम गिरे हुए बीजों को पूरी तरह से उठा कर फैंक दें तथा नए बीज धरती पर गिरने ही न दें तब बबूल का जंगल बनने से रुक जाएगा। धरती का गुण तो उपजाना ही है। बीज के गिरने पर वह पेड़ तो उगाएगी ही। ठीक यही बात हमारे कर्मों के प्रति भी लागू होती है। यदि कर्म की ओर साक्षी भाव से देख कर उसे देह रूपी धरती में उपजने ही न दिया गया तब कर्मों (कुकर्मों) की गठरी से मुक्ति पाई जा सकती है। जैसे-

नदी किनारे वशिष्ठ मुनि का आश्रम था। उनकी घोर तपश्चर्या के तेज से वह सम्पन्न हो महक रहा था। एक दिन महामुनि जी ने अपनी पत्नी से कहा, 'अरुंधती, आज बड़ा ही स्वादिष्ट भोजन बना कर नदी के उस पार ले आना। बहुत समय से चल रही मुनि विश्वामित्र की तपश्चर्या आज समाप्त होने वाली है। समाधि से जागने पर उन्हें बहुत भूख लगेगी अत: भोजन अधिक मात्रा में लेकर आना।' अरुंधति सोच में पड़ गई कि नदी में बाढ़ आई हुई है। मै भोजन तो अवश्य बना लूंगी पर उस पार पहुँचुंगी किस तरह? उसके भावों को मुनिजी ने तुरंत जान लिया और बोले, 'तुम चिंता में क्यों पड़ गईं? जैसे ही भोजन ले कर नदी किनारे पहुँचो, नदी से हाथ जोड़कर बिनती करना और कहना कि यदि मेरा पति ब्रह्मचारी हो तो हे माता मुझे उस पार जाने के लिये राह दें।'

अरुंधति ने भोजन तैयार किया परन्तु एक बात उसकी समझ में नहीं आई कि उसका पति, पिता भी बन चुका है तब वह ब्रह्मचारी कैसे हो सकता है? फिर भी पति के वचनों पर विश्वास रखकर उसने नदी से बिनती की। तुरंत नदी का पानी दो भागों में बंट गया और अरुंधति को उस पार जाने के लिये राह मिल गई।

उस पार उसके पहुँचने के कुछ समय पश्चात् महामुनि विश्वामित्र की समाधि खुल गई। बड़ी प्रसन्नता से उन्होंने कुछ ही पलों में उस स्वादिष्ट भोजन का सेवन किया । एक दाना भी बाकी न छोड़ा। उनके भोजनोपरान्त अरुंधति वापिस लौटने लगी परन्तु बाढ़ तो अब भी बनी हुई थी। उसकी परेशानी को मुनिजी श्री विश्वामित्र ने तुरंत ताड लिया और बोले, 'नदी से प्रार्थना करो और कहो कि यदि इस पल तक विश्वामित्र भूखा होगा तो मुझे राह दे दो।'

इस बात को सुनकर अरुंधति आश्चर्य में डूब गई और उसने मुनिजी से पूछा, 'पिता होते हुए भी मेरे पति ब्रह्मचारी कहलाते हैं और आप भोजन सेवन करने के पश्चात् भी भूखे हैं, दोनों ही बातें मेरी समझ से परे हैं। कृपया मेरा समाधान करें।' मुनिजी बोले, 'उचित कर्मों

का करना, प्राणिमात्र के प्रति दया का भाव, ईश्वर के नाम की तपश्चर्या आदि की वजह से हमारी विवेकबुद्धि जागृत है और वह हमारी आत्मबुद्धि पर स्थिर है हमारी मति उत्तम रह कर हमारा प्रत्येक कर्म ईश्वर के चरणों में समर्पित है । अत: यह नदी ही क्या, यमराज भी हमें दुख नहीं दे सकते।'

तात्पर्य:- शास्त्र के अनुसार धर्माचरण, करूणाबुद्धि तथा निरंतर नाम का जाप यदि मनुष्य नहीं करता है तब उसका जीवन व्यर्थ है। और निरंतर प्रभु का स्मरण करते रहने से -

हर सांस में ईश स्मरण है । तब हर कदम पर यज्ञ है ।
हर कौर में ईश स्मरण है । तब भोजन पश्चात् भी उपवास है ।

* * * * * *

बनो नम्र शालीन वाणी कृती में ।
तुम्हें देख संतोष हो सज्जनों में ॥
भलाई करो जन्म का ध्येय जानो ।
प्रभूमूर्ति को नित्य ही पूज्य मानो ॥१०२॥

कथा राम की कीर्तनों में सुनाओ
कहो मग्नतासे स्वयं को भुलाओ
पर द्रव्य को मृत्तिकाखण्ड मानो
परस्त्री सदा वंद्य माताहि जानो ॥१०३॥

भक्ति ज्ञान वैराग्य योग ।
साधना के अनेक प्रकार।
जासे टूटे भवरोग ।
मात्र चिंतन से ॥

भवरोग अथवा भवसागर को पार पाने के लिये मनुष्य को भगवद् भक्ति में लीन रहना चाहिये। इसी में नर देह की सार्थकता है। तल्लीनता प्राप्त करने के लिये प्रणाम करो, प्रणाम से अपने आप तल्लीनता में वृद्धि होगी। यदि आप के मन में किसी के प्रति गलत धारणा है अथवा दूसरे को आप के प्रति मन में कोई गलत फहमी है तब आमना सामना होने पर प्रसन्न मुख से यदि सामने वाले को प्रणाम करेंगे तो आशंकाओं के बादल छंट जाएंगे। परस्पर मैत्री के संबंध दृढ़ होने में मदद मिलेगी।

यदि सगुण पूजा करें तब उपर्युक्त बात अपने आप आप में आ जाएगी। पूजा के समय मन में भाव आते, 'हे ईश्वर मेरी गलतियों के लिये क्षमा करना। मेरी पूजा को स्वीकारना।' यूँ तो भगवान प्रत्यक्ष रूप से आप के साथ वार्तालाप नहीं करते हैं फिर भी आपको आत्मिक सुख अवश्य मिलता है। सगुणपूजा के माध्यम से प्राणिमात्र में बसे परमात्मा को समझने का अवसर मिल जाता है। तल्लीनता आ जाती है। अहंकार गल जाता है। यही वृत्ति आगे चल कर अच्छे कामों में लगा देती है। स्वार्थ भावना नष्ट हो जाती है। भक्ति मार्ग पर अग्रसर होते हुए आध्यात्म में प्रगति होने लगती है। सगुणरूप के प्रति स्नेह भाव बढ़ता जाता है। अहंकार के गल जाने पर सिर्फ परमात्मा के विषय में बोलते रहने को मन करता है। मनुष्य की विवेक बुद्धि जागृत हो ज़ाती है और तब वह ईश्वर के स्मरण में डूब जाता है और अनायास ही वह लोभ काम, पराई स्त्री, परधन आदि से कोसों दूर हो जाता है। धीरे-धीरे सत्वगुण का उदय होने लगता है और उसे चहुँ और निर्गुण रूप भगवान दिखाई देते हैं।

तात्पर्यः- सगुण पूजा से आती हैं तल्लीनता। तब अहंकार, लालच, परधन, परस्त्री के प्रति लालसा अपने आप दूर भाग जाते हैं। त्याग की भावना उपजती है। और तब निर्गुण रूप समझ में आने लगता है।

* * * * * *

क्रियाशून्यता है करे स्वप्रशंसा ।
कृती निंद्य दौर्जन्यपूर्णा नृशंसा ॥
वृथा जो भरे कल्पना की उड़ाने ।
कृपा श्री प्रभू की न वैसे निमाने ॥ १०४ ॥

सांसारिक अथवा परमार्थ को लेकर कहीं भी ऐसा वचन न दो अथवा बोलो जिसे निभाना कठिन हो। कृतिशून्य बकवास भी व्यर्थ है। कई लोग ऐसा चाहते हैं कि वे दूसरों की मदद करें अथवा दूसरों के सहायक हों परन्तु प्रत्यक्ष रूप से वे कुछ नहीं करते। एक पैसा हाथ से छूटना भी उनके लिये बड़ी कठिन बात हो जाती है। किसी गरीब को कुछ देने का वादा तो करते हैं परन्तु देते नहीं हैं। ऐसी हालत में उस गरीब की कोई विशेष हानि नहीं होती है, समय के साथ यदि उसकी हालत अमीरी में बदल गई तो वादा करने वाले के हिस्से मात्र शमि५दगी ही आती है। यही बात परमार्थ में भी लागू होती है। सच्चा परमार्थी बिरला ही होता है। सिर्फ वाद-विवाद के कौशल पर लोगों को जीतने वाले यानी लोगों को धोखा देने वाले लोगों की कभी न कभी कलई अवश्य खुल जाती है और फिर वे कहीं के नहीं रहते। अनुभवों के बगैर बोलना व्यर्थ है।

तात्पर्यः- निरंतर कल्पनाओं के दुरूह जाल में भटकने तथा अटकने वाले मनुष्य का उसकी कृतियों पर कोई अधिकार अथवा संयम नहीं रह पाता है और उसकी मात्र वाचालता ही उसे एक दिन लज्जित कर देती है।

* * * * * *

क्रिया कर्म कैसा स्वयं को विचारो ।
धरो शुद्ध बुद्धि स्वयं को सुधारो ।।
यथा बोलते हो करो कार्य वैसा ।
मिटेगा निराकल्पना ताप तैसा ।। १०५ ।।

गिरीषचंद्र घोष एक प्रसिद्ध नाटककार थे। उन्हें शराब की बुरी लत लगी थी। उनके भाग्य अच्छे थे या यूँ कहें कि उनके पूर्व जन्म का कुछ अच्छा संचित पुण्य था सो उन्हें भगवान रामकृष्ण परमहंस के दर्शनों की इच्छा हुई। वे नियमित रूप से मठ में जाने लगे जिसका परिणाम यह हुआ कि उन्हें शराब से चिढ़ तो होने लगी परन्तु प्रत्यक्ष रूप से वे शराब त्यागने में असमर्थ रहे। उन्हें इस बात का बहुत दुख भी होता था।

एक दिन इसी बात को लेकर वे बहुत परेशान हो गए। तब रामकृष्णजी उनसे बोले, 'आप शराब छोड़ नहीं पा रहे हैं यह बात तो सत्य है। आप ऐसा करें कि जब भी आप शराब का गिलास मुंह से लगाएं उससे पूर्व उसे मुझे अर्पण कर रहे हैं ऐसी भावना मन में जागृत करें ताकि आप को यह संतोष रहेगा कि वह शराब आप नहीं पी रहे हैं बल्कि आप के द्वारा उसे मैं प्राशन कर रहा हूँ।' गिरीष बाबू ने यह बात मान ली। कुछ दिनों के पश्चात् सत्संग की महिमा से उनकी सद्असद् विवेक बुद्धि जागृत हुई और उन्हें मन ही मन ऐसा लगने लगा कि 'इस महान गुरू को मैं यह क्या अर्पण कर रहा हूँ? और धीरे-धीरे यह उनके मन में यह बात गहराई से बैठ गई और उनकी शराब छूट गई।

(अन्यत्र प्रचलित कथा में स्वामी रामकृष्णजी ने मदिरापान के पूर्व भगवती काली माई को भोगलगा कर पीने की बात भी है)

कई बार ऐसा होता है कि बड़ा ही सुंदर पीला दिखने वाला आम अंदर से सड़ा हुआ होता है। जब तक उसे काट कर देखा नहीं जाता, उसके खराब होने का पता नहीं चलता।

ऊपर से बड़ा ही सुंदर दीखने वाला शरीर अंदर से भी ऐसा ही है यह भ्रम हो सकता है। यदि उसके विपरीत दोनों की कल्पना भी करें तो रोंगटे खड़े हो जाएंगे। इसी तरह से संसार भी दुखदाई ही है परन्तु निराशा के आधीन होकर उससे दूर भागने में पौरूष कहां? अपनी सत्-विवेक बुद्धि को जागृत कर सभी दृष्य वस्तुओं की जड़ में बसे दुख को दूर

करो, परमात्मा के पास पहुँचने का प्रयत्न करो, जीवन के दुखों का सामना कर के उसकी समस्याओं का समाधान खोजो, संतों की लीक पर चलने का प्रयत्न करो और उस परमात्मा को प्राप्त करने का प्रयत्न करो। स्वधर्माचरण से अविद्यारूपी कल्पनाओं के जाल में फंसने से बचे रहो।

तात्पर्य:- संसार तो व्यर्थ है
विवेक से जियो।

* * * * * *

करो स्नान संध्या धरो एक निष्ठा ।
विचारांकुशों से संभालो प्रतिष्ठा ॥
दया सर्व भूतार्थ जो पालता है ।
वहां भक्ति की शांति की संपदा है ॥ १०६ ॥

यदि जीवन को सफल बनाना है तब दिन भर के सभी कार्य शास्त्र शुद्ध पद्धति से करने चाहिये। जैसे सुबह जल्दी उठना, नियमित रूप से व्यायाम करना, ईश्वर का चिंतन करना और पूरी श्रद्धा से नियत कार्यों को सफलतापूर्वक पूरा करना। कुछ बातें ऐसी हैं जिनके आचरण से मनुष्य जीवन में चहुँमुखी सफलता प्राप्त कर सकता है। आचरण के बोध-वचन निम्न हैं-

१)	सत्यम् वद	सदैव सच बोलो।
२)	धर्मं चर	धर्म का पालन करो।
३)	मातृदेवो भव	माता को ईश्वर मानो।
४)	पितृदेवो भव	पिता को ईश्वर जानो।
५)	आचार्य देवो भव	गुरू को ईश्वर जानो।
६)	अतिथि देवो भव	अतिथि को ईश्वर जानो ।
७)	श्रद्धया देयम्	श्रद्धा से दान करो।

उपर्युक्त बोधवाक्यों के आचरण से मनुष्य वैयक्तिक, कौटुंबिक यानी पारिवारिक तथा विश्व के स्तर पर प्रत्येक प्राणि मात्र के प्रति दया एवं स्नेह की भावना को बनाये रख सकता है एवं वह सदैव क्रियाशील बना रह सकता है। रात में सोने से पूर्व भगवद्गीता का वचन, 'ईश्वर के द्वारा निर्मित इस विश्व के अखिल प्राणिमात्र को सुख-शांति मिले।' का स्मरण करते हुए, सफलता का आनंद लेते हुए लेट जाए तब गहरी नींद आने में कैसी देर?

तात्पर्य:- विशुद्ध एवं श्रद्धावान जीवन ईश्वर के प्रति प्रेम भावना का निर्माण करता है। संतोष मिलता है।

* * * * * *

अरे चित्त तू क्रोध को छोड़ दीजे ।
सदा बुद्धि शोधार्थ सत्संग कीजे ॥
सभी दुष्ट का क्रूर का संग त्यागो ।
किसी रीति से मोक्ष के मार्ग लागो ॥ १०७ ॥

शिल्पा की मंगनी की बात पूरे कॉलेज में फैल गई। सभी ने उसका हार्दिक अभिनंदन किया। तेजस् के साथ उसके संबंध करीब-करीब टूट चुके थे, उसने भी उसे बधाई दी और कहा, 'शिल्पा, इन दिनों तुम मुझ से बिलकुल कटी कटी रहती हो, अपने विवाह पर आमंत्रित करोगी भी या नहीं?' शिल्पा ने हंसते हुए जवाब दिया, 'तेजस, यूँ भी मैं तुम्हारे बहुत निकट कब थी? समाज में सभी के साथ सौहार्द्र पूर्ण संबंध होने चाहिये और इसलिये किसके कितने करीब जाना है, मैं खूब जानती हूं। सच तो यह है कि आपसी संबंधों के बारे में मैं सजग ही रहना पसंद करती हूँ। रही बात तुम्हारी, तुम्हें तो आचार, व्यवहार का शऊर तक नहीं है। तुम्हारे लिये तो मैं पहले से ही सजग हूँ।''

अपने बारे में सच को जान कर तेजस वहाँ से चलता बना।

तात्पर्यः- जिन लोगों के बीच मनुष्य या व्यक्ति घिरा रहता है उससे उसका सामाजिक स्थान तय होता है।

* * * * * *

सदा सर्वदा सज्जनों में रहोगे ।
क्रियाशुद्धि हो भक्ति का पंथ लोगे ॥
क्रियाशून्य वाचालता हानिकारी ।
थमे वाद संवाद वो हानिकारी ॥ १०८ ॥

कृष्ण भगवान स्यमन्तक मणि की खोज में निकले थे। उन्हें पता लगा कि जांबवंत नामक रीछ की गुफा में वह मणि है। वे वहां पहुँचे तब जाना कि राम अवतार के समय वाले इस रीछ ने वह मणि अपने बच्चों के खेलने के लिये दी है। श्रीकृष्ण ने बहुतेरा समझाया परन्तु जांबवंत ने देने से इंकार कर दिया। अंत में उन्हें जांबवंत के साथ सत्ताईस दिन-रात कुश्ती लड़ना पड़ी। उन्होंने जांबवंत को हराया और मणि को प्राप्त किया।

श्रीकृष्ण की सत्संगति के कारण जांबवंत के आचार विचार इस प्रकार बदल गए कि प्रभु के चरणों में उसने अपनी कन्या जांबवंती तथा मणि समर्पित कर दिये। जांबवंत के चित्त की शुद्धि को देखकर प्रभु ने दोनों को स्वीकार किया।

तात्पर्यः- सज्जनों की संगत में दुर्जनों का स्वभाव बदल जाता है। 'अपने अहंभाव को त्याग कर यदि तुम मेरे हो जाओगे तो मैं तुम्हें स्वीकार अवश्य करूँगा', भगवान श्रीकृष्ण ने अपने इस वचन को हमेशा निभाया है।

✹ ✹ ✹ ✹ ✹ ✹

वितण्डी विवादी न वृत्ती भली है ।
परात्मा सुखा वे सुवाचा भली है ॥
वही विश्व में शोक संतापहारी ।
रुके वाद संवाद है लाभकारी ॥ १०९ ॥

तहां वाद ना हो सुसंवाद होवे ।
जहां तामसी राजसी वृत्ति जावे ॥
अहंता भरा वाद नाना विकारी ।
रुके वाद संवाद है लाभकारी ॥ ११० ॥

द्वारका बाई अब बूढ़ी हो गई थीं। घर में विवाह की तैय्यारियां करनी थीं और हाथ बटाँने वाले मेहमान अभी तक आए नहीं थे। अपनी ताकत के अनुसार वे अपना काम कर रही थी। घर में छः वर्ष की आयु का पोता था। वे यदि उससे कुछ करने को कहतीं तब वह पचासों सवाल पूछ कर दादी को परेशान कर देता। जवाब देते देते वे थक जातीं। अंत में हारकर वे उससे बोली, 'अब मुझे कुछ मत पूछना, मुझे सब मालूम है और मुझे अपना काम करने दो।' दादीजी की यह बात सुनकर पोता उछल पड़ा और उसने पूछा, 'अच्छा दादी आप सब कुछ जानतीं हैं तब बताइयें 'इंग्लैंड' कहां है? इस प्रश्न का जवाब बेचारी दादी के पास कहां था?'

उपर्युक्त संवाद के अनुसार ही समाज में कुछ ऐसे लोग भी होते हैं जो समस्याओं पर वैचारिक सतह पर चल रही सयानों की चर्चा के बीच बेक़ार के प्रश्नों को उपस्थित कर यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि वे अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान हैं। अभिमान रहित चर्चा से 'वादे वादे जायते तत्वबोधः इस भावना से ही अनेक समस्याओं के समाधान ढूंढे जा सकते हैं।'

तात्पर्यः- निरर्थक विवाद से कुछ भी हासिल नहीं होता है। यदि इस बात का ध्यान रखा जाय कि 'हमसे भी बढ़कर दूसरे बुद्धिमान लोग दुनिया में बसते हैं,' तब अहंकार रहित चर्चा होगी और वह परमार्थ के मार्ग को भी सुलभ करेगी।

✹ ✹ ✹ ✹ ✹ ✹

जनों के हितों की सदा बात भावे ।
जनों के हितों की सदा खोज लेवे ॥
सभी का हितैषी, न पाखंडधारी ।
तजो वाद, संवाद है लाभकारी ॥ १११ ॥

सुनी क्ल्पना दीर्घ वैसे सुनाया ।
गया जन्म सारा नहीं सार पाया ॥
बढ़ी मात्र शंका बने दंभधारी ।
तजो वाद, संवाद है लाभकारी ॥ ११२ ॥

भगवद् गीता में प्रभु ने अर्जुन से कहा -

(हे अर्जुन) सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः ।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्षामि ते हितम् ।
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥
त्वमेव शरणं गच्छ सर्व भावेन भारत ।
तत्प्रसादात्परां शांतिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥

प्रभु बोले -

'हे अर्जुन, ईश्वर समस्त प्राणी मात्र में बसते हैं और यंत्र के अनुसार अपनी माया से घुमाते रहते हैं इसलिये हृदय में बसे उस परमात्मा की शरण में जाओ तथा उसके कृपा-प्रसाद से शांति प्राप्त करो।

तुम मेरे प्रिय शिष्य हो इसलिये यह अत्यन्त गोपनीय उपदेश मैं तुम्हें दे रहा हूँ।'

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥

प्रभु ने कहा,

हे कौन्तेय, मोह के आधीन हो कर तुम जिस बात से इंकार कर रहे हो, परन्तु स्वभाव निर्मित स्वकर्म से बँधे हुए तुम युद्ध रूप कर्म (यदि मेरा कहा न माना तब), प्रकृति की चपेट में आकर अन्त में तुम्हें उसे करना ही होगा।

उपर्युक्त वचन 'मामेकं शरणं व्रज' कहने वाले भगवान् श्रीकृष्ण हैं। ईश्वर ने 'सर्वधर्मान्परित्यज्य' भी कहा है, फिर भी हम अपने आप को महान् ज्ञानी समझ कर, दंभ

से तात्विक मत भेदों को मिटाने के प्रयास नहीं करते हैं। इसीलिये संत शिरोमणि गुरु रामदास को बड़ा आश्चर्य होता है और वे कहते हैं, 'निरर्थक विवाद' करने के बजाय परमतत्व के अनुकूल, निष्ठावान् पंडितों की सुसंवादित चर्चा हमेशा हितकारी सिद्ध होगी। भगवान् ने कहा है-

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः ।
सोऽपि मुक्तः शुभांलोकान् प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम् ।।

तात्पर्यः- श्री समर्थ के हृदय में जन सामान्य के प्रति आस्था एवं तड़पन थी इसीलिये वे कभी भी तात्विक विवाद में अटके नहीं और उन्होंने दुनिया को आत्महित का मार्ग दिखाया।

* * * * * *

नहीं सत्य देखा, करे पंडिताई ।
अहंकार है, राक्षसों सी ढिठाई ।।
कहे विश्व में एक विद्वान हूँ मैं ।
बनो ईशदर्शी तजो बात तू मैं ।। ११३ ।।

बालादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति ।। (सप्तशती)

परमार्थ के मार्ग पर निरीह तथा सजग रहना परम आवश्यक है। इसका कारण यह है कि शत्रुपक्ष के अगुआ (सेनापतित्व) महामाया के आधीन होते हैं। विकारों वाले महाबलि महारथी सैनिक महामाया के पास हैं। उसका 'अहंता' नामक सेनापति वह चुपचाप भेज देती है और तब ज्ञान मार्ग के साधक के गिरने अथवा फिसलने की आशंका रहती है। कभी-कभी परले सिरे की अधोगति भी प्राप्त हो जाती है।

यदि 'ज्ञान' प्राप्त हो गया है और अहंतावश उसका कहीं संक्रमण नहीं किया गया है तब ब्रह्मराक्षस की स्थिति निश्चित हो जाती है।

तात्पर्यः- ज्ञान प्राप्त करना और ज्ञान का दान करना, इन दोनों क्रियाओं में अहंभाव को त्यागने तथा सजगता से रहने की सीख संत देते रहे हैं।

* * * * * *

करे जीभ लंबी बड़े बोल बोले ।
बढ़ाया चढ़ाया महागर्व पाले ।।

क्रियाहीन वाचालता त्याज्य मानो ।
विचारो स्वयं की करो खोज जानो ।। ११४ ।।

लेमार्क नामक वैज्ञानिक ने उत्क्रांतिवाद की खोज की थी परन्तु सबूत के अभाव में वे इसे सिद्ध न कर पाए। उनकी मृत्यु के पश्चात् इसी विचार को डार्विन ने प्रमाणों के आधार पर सिद्ध कर दिया। और उत्क्रांतिवाद के 'आविष्कारक' के नाम से डार्विन प्रसिद्ध हो गए। लेमार्क का अभ्यास अथवा कथन सत्य था परन्तु सबूतों के अभाव में वे सिद्ध न कर पाए।

तात्पर्य:- दुनिया में सिर्फ शाब्दिक ज्ञान कोई अर्थ नहीं रखता है। अनुभूति की कोई कीमत नहीं यदि उसे विज्ञान की कसौटी पर न परखा गया हो। शुद्ध याने वैज्ञानिक आधार की अभिव्यक्ति आवश्यक होती है।

* * * * * *

जहां वाद ना हो वहां बात कीजे ।
विवेकी बनो मैं मुझे छोड़ दीजे ।।
यथा बोलना हो तथा आचरीजे ।
कृती शुद्ध हो भक्ति का मार्ग लीजे ।। ११५ ।।

एक दिन संत ज्ञानेश्वर अपने गुरु (भाई भी) निवृत्ति नाथ, सोपान देव तथा बहन मुक्ताबाई के साथ संत गोरोबा के यहाँ पधारे। उसी समय संत (नामदेव) भी वहीं थे। उन्हें अहंकार बहुत था। उनके अहंभाव को नष्ट करने की इच्छा मुक्ताबाई को हुई। वे खरी खरी बात बोलने से कभी भी डरती न थीं। उन्होंने गोरोबा से कहा, 'काका, मुझे एक लकड़ी दें जिससे मैं ठोंक पीट कर यह तो जान लूँ कि कौन सा घड़ा कच्चा है।' गोरोबा ने उन्हें एक लकड़ी थमा दी। सभी के सिर को मुक्ताबाई ने बारी बारी से ठोंका और अन्त में वह संत नामदेव के पास आईं। सिर को ठोंक कर बोली, 'अरे रे ! यह घड़ा तो एकदम ही कच्चा रह गया।' उनकी यह बात सुनकर सब खिलखिला पड़े और नामदेव को अपनी गलती का एहसास हुआ। उसी पल से नामदेव ने आत्म-परीक्षण करना शुरू कर दिया और विचारों की गहराई तक वह पहुँच गया और अंत में संत शिरोमणि 'नामदेव' कहलाने लगा।

तात्पर्य:- अहंकार को त्याग कर जीवन में उत्तम विचार एवं आचारों का पालन किया जाए तब भक्ति के मार्ग पर चलना सरल हो जाता है, और इसी मार्ग के अनुसरण से ईश्वर को प्राप्त किया जा सकता है।

* * * * * *

दिया शाप राजर्षि अंबर्षि [1] को था
उसे विष्णु ने जो स्वयं पे लिया था
महादेव से क्षीर सिंधू प्रदानी
नुपेक्षे कभी देव भक्ताभिमानी ॥ ११६ ॥

उस समय मनोहर की आयु मात्र नौ वर्ष की थी जिस समय उसने अपने गांव 'चौल' का त्याग किया और मुंबई जैसी महानगरी में कदम रखा। ईश्वर के प्रति अपार निष्ठाभाव, निरंतर परिश्रम करते रहने का हठ ही इस बालक का मूलधन था। फुटपाथ पर निवास तथा ओढने के लिये आकाश की चादर। ईश्वर चिंतन उसका भोजन तथा श्रद्धामय प्रयत्न ही उसके साधन बन गए थे।

अपार परिश्रमों के फल स्वरूप, समय के बीतते वह गरीबी की अंधेरी गुफा से बाहर निकला और अमीरी के प्रकाश से सरोबार हो गया। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिये उसने परिश्रम के साथ साथ ईश्वर चिंतन भी बहुत किया था। युवा हो जाने पर यथा समय उसका विवाह एक ऊँचे घराने की सुंदर लड़की से हो गया। गृहस्थी खूब मजे से चल रही थी। उसके चार बच्चे भी हो गए।

एक दिन वह बीमार पड़ गया। उम्र तथा सामाजिक स्थिति ने अब मनोहर को मनोहर बाबू बना दिया था। अस्पताल में जांच कराने पर पता चला कि वे प्लूरिसी के मरीज हैं। बीमारी ने गंभीर रूप धारण कर लिया था। डॉक्टर ने पत्नी से कह दिया कि मनोहर बाबू अब अधिक से अधिक पंद्रह दिन के मेहमान हैं। वेदनाओं को सहनीय बनाने हेतु डॉक्टर साहब ने दवाइयों की एक लंबी सूची लिख दी।

अस्पताल से बाहर आने के बाद मनोहर बाबू ने पत्नी के चिंताग्रस्त सूखे चेहरे की ओर देखा, वे वहीं ठिठक गए, दो तीन पल कुछ सोचते रहे और तुरंत उन्होंने दवाइयों की पर्ची को टुकड़े टुकड़े कर के फैंक दिया। उन्होंने सोचा कि आज तक जीवन में कितनी ही कठिनाइयों का सामना उन्होंने पूरे धैर्य के साथ किया है। ईश्वर के प्रति उनकी गहरी श्रद्धा है तब वे पूरे मनोयोग से इस स्थिति का भी डटकर सामना करेंगे। हारेंगे नहीं।

दृढ़ निश्चयी जीवन जीने वाले मनोहर बाबू को प्रयत्नरूपी परमेश्वर ने जैसे क्षीर सागर ही इनाम में दे दिया। असमय मृत्यु को उन्होंने मात दे दी और आगे पूरे अस्सी वर्ष तक वे जिये। उम्र के ब्यासी वें वर्ष में लगातार इक्कीस दिनों तक अपनी स्वेच्छा से उपवास कर उन्होंने इच्छामरण को स्वीकारा। उनके चारों बच्चों को उन्होंने उत्तम रीति से संस्कारित किया

---

(1) अंबर्षि- राजा अंबरीष
(2) नुपेक्षे - उपेक्षा नहीं करते हैं।

तथा उन्हें जीवन में सफल होने के मार्ग पर अग्रसर होने की प्रेरणा दी।

तात्पर्य:- प्रयत्नरूपी परमेश्वर अपने भक्त के प्रति अनुराग तथा अभिमान रखते हैं और अनिष्ट से उसे तारते हैं।

✸ ✸ ✸ ✸ ✸ ✸

पिता ने बुला गोद में था बिठाया ।
विमाता बनीं क्रुद्ध, खींचा भगाया ॥
स्थिति व्योम में निश्चला दिव्य दीन्हीं ।
नुपेक्षे कभी देव भक्ताभिमानी ॥ ११७ ॥

(भक्त ध्रुव)

बात पुरानी अवश्य है परन्तु घटना सत्य है। उस बालक की मां अपने मायके से ससुराल के लिये निकल पड़ी थी। प्रवास संध्या समय शुरू हुआ था। बैलगाड़ी से जाना था। मायके वालों ने दो विश्वसनीय नौकरों के साथ अपनी बेटी तथा नन्हें बच्चे को बिदा कर दिया। राह जंगल से होकर गुजरती थी।

जंगल का शांत ठंडा वातावरण तथा बैलों के गले में बंधी घंटियों की मधुर लय। बैलों के लिये मार्ग परिचित था सो बिना आर लगाये वे धीरे धीरे अपने मार्ग पर चल रहे थे। नन्हें बालक को चादर में अच्छी तरह से लपेट कर गोदी में रखकर मां प्रवास का आनंद ले रही थी। धीरे-धीरे सभी की आँखें नींद से बोझिल होने लगीं।

कुछ समय पश्चात् मां की आंख अचानक खुली तब वह एकदम से हतप्रभ हो गयी। उसकी तो जैसे जान ही निकल गई। बच्चा गोद में नहीं था। कहीं रास्ते में नीचे लुढक गया था। सभी लोग बहुत भयभीत तथा परेशान हो गए। जिस रास्ते से बैलगाड़ी गुज़री थी, उसी मार्ग पर उसे पीछे लौटाया गया। एक-डेढ़ मील पीछे आने पर मार्ग पर बच्चा चादर में लिपटा पड़ा था। जंगल की राह में जंगली जानवरों का होना तो निश्चित् ही था। परन्तु उस परम पिता परमात्मा की असीमं कृपा से बालक पूर्णतया सुरक्षित था। माता ने ईश्वर के प्रति लाख लाख धन्यवाद माने। ईश्वर की असीम कृपा वाला वह बालक आगे चलकर बहुत बड़ा न्यायाधीश बना। उनका नाम था 'महादेव गोविंद रानडे!' जीवन भर उन पर ईश्वर की कृपा दृष्टि बनी रही।

तात्पर्य:- अनाथों के नाथ सबके ऊपर अपनी कृपा दृष्टि बनाए रखते हैं।

✸ ✸ ✸ ✸ ✸ ✸

गजश्रेष्ठ को नक्रने था दबाया ।
करी प्रार्थना विष्णु दौड़े, छुड़ाया ॥
चला चक्रधारा बने प्राणदानी ।
नुपेक्षे कभी देव भक्ताभिमानी ॥ ११८ ॥

विष्णु भगवान के द्वारपालों जय तथा विजय को नारदजी ने शाप दिया और उन दोनों ने पृथ्वीतल पर मगर तथा हाथी के रूप में जन्म लिया। जिस सरोवर में मगर रूपी जय रह रहा था एक दिन उस सरोवर के किनारे विजयरूपी हाथी पानी पीने के लिये आया। मगर ने हाथी के पैर को अपने जबड़े में कस कर पकड़ा और उसे पानी में खींचना शुरू कर दिया। गजेन्द्र ने भगवान विष्णु की मन ही मन खूब आराधना की तब भगवान अपना सुदर्शन चक्र लेकर वहाँ प्रगट हुए और मगर का जबड़ा तोड़ कर गजेन्द्र तथा मगर दोनों को शापमुक्त किया।

तात्पर्य:- चाहे महाभारत की सती द्रौपदी हो अथवा हाथी हो, भक्त के प्रति स्नेह तथा अभिमान की भावना रखने वाले परमात्मा कभी भी सच्चे भक्त की उपेक्षा नहीं करते हैं।

* * * * * *

अजामील पापी उसे अंत आया ।
तदा विष्णु का भूल से नाम गाया ॥
उबारा उसे भागते चक्रपाणी ।
नुपेक्षे कभी देव भक्ताभिमानी ॥ ११९ ॥

जिन्होंने अनगिनत पाप किये जैसे पूतना, दुराचारी अजामिल, वेश्यापिंगना अत्याचारी अघ्रदैत्य, अज्ञानी गोपी आदि का उद्धार मात्र प्रभु ही कर पाए। जब वासना रूपी घास, ज्ञानरूपी अग्नि से मिलेगी तब घास का भस्म होना निश्चित् जानें।

तात्पर्य:- दासाभिमानी भगवान कभी भी भक्त की उपेक्षा नहीं करते हैं।

* * * * * *

बचाने श्रुती मत्स्य का रूप धारा ।
हुए कच्छ विष्णु गिरी को संवारा ॥
हितों में जनों के बने नीच योनि ।
नुपेक्षे कभी देवभक्ताभिमानी ॥ १२० ॥

सज्जनों एवं सत् प्रवृत्ति के भक्तों के तारने हेतु प्रभु छोटे-छोटे काम करने के लिये भी तत्पर रहते हैं।

महाभारत का युद्ध समाप्त हो गया था। अर्जुन तथा भगवान श्रीकृष्ण उसी रथ में लौट आए जिसके सारथी प्रभु स्वयं थे। लौटने पर अर्जुन ने प्रभु को आदर सम्मान देते हुए पहले नीचे उतरने की बिनती की परन्तु प्रभु ने अर्जुन से पहले नीचे उतरने का आग्रह किया। अर्जुन नीचे उतरा और बाद में प्रभु। जैसे ही प्रभु रथ से नीचे उतरे, कुछ ही पलों में रथ जल कर राख हो गया। युद्ध के दौरान अट्ठारह दिनों तक रथ को कुछ भी न हुआ था परन्तु इस अवधि में शत्रु की दुष्ट इच्छाओं वासनाओं का ज्वालामुखी उस रथ को घेरे हुए था जो अर्जुन को किसी भी पल भस्म कर देता। परन्तु प्रभु की दिव्य शक्ति ने उस ज्वालामुखी को थामे रखा। जब रथ की आवश्यकता ही न रही तब प्रथम अर्जुन को नीचे उतार कर प्रभु बाद में नीचे उतरे। वे अर्जुन के रक्षणकर्ता बने थे।

तात्पर्यः- भक्त के प्रति गर्व की भावना का अनुभव करने वाले भगवान ने उसके रक्षणार्थ सारथी भी बनना स्वीकार किया।

* * * * * *

महाभक्त प्रह्लाद ने कष्ट पाया ।
उसे तारने ओढली सिंह काया ॥
महाघोर थी उग्रता मूर्त कीन्ही ।
नुपेक्षे कभी देव भक्ताभिमानी ॥ १२१ ॥

राम रावण युद्ध से पहले की बात है। रावण का दरबार खचाखच भरा था और राम से किस तरह जूझा जाये इस विषय पर चर्चा हो रही थी। रावण के दरबार में अभिमान भरी चर्चा हो रही थी। अहंभाव का बोलबाला था। किसी का भी विवेक जागृत न था सिर्फ विभीषण इस बात के अपवाद थे। उन्होंने बार-बार इस मुद्दे को उठाया कि श्रीराम का पक्ष न्याय पूर्ण है, धर्म के अनुसार है समझौता करने में ही सबकी भलाई है। रावण ने अविवेक से उद्धत होकर विभीषण को भरे दरबार में लात मारी और उसका घोर अपमान कर उसे दरबार से निकाल बाहर किया।

इस अपमान के कारण विभीषण की सहनशक्ति का अन्त हो गया और वह श्रीराम की शरण में आया।

राम-रावण युद्ध समाप्त हुआ। श्रीराम विजयी रहे। लंका का राज्य श्रीराम के हाथ आ गया। प्रभु को सतोगुण तथा मनुष्यों की उत्तम परख थी सो उन्होंने बड़े ही स्नेह से लंका

के राज की बागडोर विभीषण के हाथों सौंप दी। पूरे उल्लास एवं प्रसन्नता से विभीषण का राज्याभिषेक करवा कर ही प्रभु अयोध्या लौटे।

तात्पर्यः- भक्त के प्रति अभिमान की भावना रखने वाले प्रभु सदैव उसके रक्षण की चिंता करते हैं।

* * * * * *

करी प्रार्थना इन्द्र ने हाथ जोड़े ।
बली के यहां जा बने भिक्षु ठाड़े ॥
द्विजों के लिये जो बने पर्शुपाणी ।
नुपेक्षे कभी देव भक्ताभिमानी ॥ १२२ ॥

कोयना के परिसर में बहुत बड़ा भूचाल आया था। हज़ारों लोग बेघरबार हो गए थे। भूचाल के धक्के बारंबार आ रहे थे। समूचे लोग चिंताग्रस्त हो गए थे। सीता अपने नन्हें शिशु को गोदी में सुला रही थी। उसकी सास पास ही बने मंदिर में गईं थीं। सीता ने शिशु को खाट पर सुलाया और यह सोचकर कि दस पंद्रह मिनट में भूकंप की कोई हलचल न होगी, वह नहाने चली गई। स्नान की व्यवस्था घर में ही थी। सीता ने दो चार लोटे पानी अपने शरीर पर उँडेले ही होंगे कि भूकम्प का एक तेज धक्का आया। सीता का सारा घर ढह गया। शिशु को बचाने, उठाने के लिये वह गीली साड़ी में ही जी जान से कमरे की ओर दौड़ने लगी। विलाप करने लगी। जहां शिशु को सुलाया था उस कमरे की सभी दीवारें गिर चुकी थीं। सास दौड़ कर आई, सास ने तथा पास पड़ौस की अन्य महिलाओं ने सीता को बरबस रोके रखा। शिशु के लिये सभी लोग दुखी थे परन्तु कर भी क्या सकते थे।

जब भूकम्प का झटका रुक गया, सभी लोग उस कमरे की ओर दौड़ पड़े जहां शिशु दब गया था। पत्थर, लकड़ी मिट्टी आदि को तुरंत वहां से हटा कर शिशु की खोज होने लगी और महान् आश्चर्य कि शिशु अपनी जगह पर ही नन्ही मुट्ठी चूसता हुआ आराम से वहीं पड़ा हुआ था। दीन दुनिया से पूर्णतया बेखबर।

तात्पर्यः- प्रभू सर्वदा हमारे सान्निध्य में होते हैं, उन्हें समझने अथवा अनुभव करने के लिये ज्ञान की दृष्टि का होना अत्यन्त आवश्यक है।

* * * * * *

करी यज्ञ रक्षा महाराक्षसों से ।
मिले झोपड़ी में अहल्या सतीसे ॥

शतों देवता बंद थे मुक्ति दीन्ही ।
नुपेक्षे कभी देव भक्ताभिमानी ॥ १२३ ॥

जन जागरण हेतु समर्थ रामदास गांव गांव घूमते रहते थे। उन दिनों उनका मुकाम कोल्हापुर में था। रामदास एक दृष्टा योगी थे तथा वे अंधश्रद्धाओं, अनिष्ट परंपराओं एवं दकियानूसी विचारों के विरोध में स्पष्ट रूप से अपने प्रवचनों में बोलते थे। उस समय की सामाजिक एवं राजकीय परिस्थिति अत्यंत हीन तथा दीन थी । अत: वे सोये मनों को जागृत करने का, मनोधैर्य बढ़ाने का, राष्ट्रप्रेम जगाने का काम जोरशोर कर रहे थे। उनके विचारों को जानने के लिये प्रतिदिन सेकड़ों स्त्रीपुरुष उनके प्रवचनों में उपस्थित रहने लगे। जन समूह में उनके प्रति अपार श्रद्धा की भावना थी।

बाल विधवा वेणा भी उन्हीं में से एक थी। उसने मन ही मन उन्हें अपना परम गुरू मान लिया था। अपार श्रद्धा से वह उनके प्रवचन सुनती थी।

कीर्तन रात में होता था। वेणा पूरे दिन घर का काम करती रहती ताकि रात्रि के कीर्तन में उसे जाने की इज़ाज़त मिल सके। वह विधवा होने के पश्चात् अपने माता-पिता के साथ रहने लगी थी। रात्रि में कीर्तन देर से समाप्त होता था और उसके पश्चात् रामदास लोगों की शंकाओं का समाधान करते। इस में वेणा को बड़ा आनंद आता था । अत: वह भी रूक जाती। रात्रि में देर से लौटती। गुरु उसके साथ घर तक किसी शिष्य को भेज देते। यह बात इतनी पुरानी है कि जब भारत में स्त्रियों की स्वतंत्रता की बात सोचना भी पाप समझा जाता था। वेणा के रात में देर से घर आने पर पूरे समाज को और साथ-साथ उसके परिवार-जनों को भी आपत्ति होने लगी। लोगों को गुरुदेव के विरोध में कुछ कहने की हिम्मत तो न थी अत: वे वेणा को भला बुरा कहते। उसे कोसते। कहते कि 'वेणा सूर्य जैसे महान संत को ग्रहण लगा कर ही मानेगी।'

लोक-निंदा होने लगी। माता-पिता सह न पाए । अत: एक दिन पिता ने उसे पीने को ज़हर दे दिया और एक कमरे में बंद कर दिया। समर्थ रामदास को अन्तर्मन में इस घटना का अपने आप पता चला। अपने कुछ शिष्यों को साथ ले कर वे उसके घर पहुँचे। अचानक उन्हें आया देख कर वेणा के पिता हक्के बक्के रह गए। रामदासजी ने उन्हें बहुत समझाया । गुरु की वाणी तथा सच्चाई को समझने पर पिता को अपनी करनी पर बहुत दुख हुआ । वे गुरु के चरणों में लोट गए और बोले, 'अब आप ही हमें उबारें और कन्या का उद्धार करें' रामदास स्वामी ने कहा कि उसी दिन से वेणा का सभी रिश्तेदारों के साथ रिश्ता टूट गया है और वह अब उनके शिष्यों के साथ उनके आश्रम में रहेगी। अपना सारा जीवन प्रभु के चरणों में अर्पण कर देगी। पिता ने प्रसन्नतापूर्वक कन्या को बिदा कर दिया ।

तात्पर्य:- अपने समूचे भारत भ्रमण में समर्थ रामदासजी ने सैकड़ों अनाथ जीवों का उद्धार

किया। भक्त के प्रति अभिमान स्वरूप भावना रखने वाले प्रभू भक्त के बुलावे की बाट जोहने में समय नष्ट नहीं करते।

✵ ✵ ✵ ✵ ✵ ✵

जहां आर्त हो द्रौपदी ने पुकारा ।
तहां आ गये छोड़ उद्योग सारा ॥
कली से बचाने बने बुद्ध मौनी ।
नुपेक्षे कभी देव भक्ताभिमानी ॥ १२४ ॥

वह एक छोटा सा रेल्वे स्टेशन था। आधी रात बीत चुकी थी। रात में एकाध गाड़ी ही उस स्टेशन पर रुकती थी इसलिये सारा स्टेशन सूनसान पड़ा था। राव बहादुर साहब प्रतीक्षालय में अपनी ट्रेन की राह देख रहे थे। उनकी आँख लग गई थी । परन्तु किसी के धीरे से हँसने की आवाज ने उन्हें जगा दिया।

एक बहुत ही सुन्दर भिखारिन अपने अंधे बच्चे को रोटी खिला रही थी और बच्चा खुशी से हँस रहा था। उन चीथड़ों में भिखारिन की सुन्दरता छिपाए न छिप रही थी। राव साहब बहुत ही सज्जन व्यक्ति थे। जीवन में सब कुछ उन्होंने पा लिया था । अत: उनके मन में कामवासना तनिक भी न ऊपजी। उनकी निरंतर चलने वाली साधना ने उन्हें एक उत्तम मानव बना दिया था। उस एकान्त स्टेशन पर गाड़ी के आने की सूचना मिली और राव साहब अपनी बैग उठा कर प्लेटफार्म पर आ गए। उस स्टेशन पर कोई उतरा नहीं। चढ़ने वाले अकेले राव साहब ही थे। वे ट्रेन में चढ़े ही थे कि उनका ध्यान हरी बत्ती दिखाने वाले पोर्टर की ओर गया। पोर्टर जवान था तथा चेहरे पर से छटा हुआ बदमाश दिखाई दे रहा था। तुरंत राव साहब के मन में यह विचार बिजली की तरह कौंध गया कि स्टेशन पर अकेली असहाय खूबसूरत भिखारिन है और यह बदमाश पोर्टर भी है। गाड़ी निकल चुकी थी फिर भी वे तुरंत गाड़ी से उतर पड़े। उन्हें भिखारिन की चिंता होने लगी थी। यूँ उतरता देख लोगों ने उन्हें अवश्य पागल समझा होगा। प्लेटफार्म पर उतर कर वे तेजी से प्रतीक्षालय की ओर चल पड़े। उन्हें वह वहां दिखाई न दी। उन्हें इस आशंका ने घेर लिया कि उस बदमाश ने ज़रूर ही उस के साथ अनुचित बर्ताव किया होगा और वे प्रतीक्षालय के पीछे की ओर गए।

उनकी आशंका सच साबित हुई। वहां पर वह बदमाश तो न था परन्तु स्टेशन मास्टर ही उस बेचारी की इज्जत उतारने पर उतारू हो गये थे। यदि राव साहब वहां समय से न पहुँचते तो उस गरीब स्त्री की दुर्दशा हो गई होती। वह बेचारी डर कर ईश्वर का नाम जप रही थी ऐसे में राव साहब ही भगवन के रूप में जैसे वहां पहुँच गए थे।

तात्पर्य:- लोग कहते हैं भगवान आते नहीं।
द्रौपदी की तरह तुम बुलाते नहीं ॥

* * * * * *

अनाथों तथा दीन के साध्यकर्ता।
प्रभू कल्कि होंगे महाधर्मत्राता ॥
जिसे नेति नेति कहे वेद वाणी।
नुपेक्षे कभी देव भक्ताभिमानी ॥ १२५॥

समय के चक्र के अनुसार सामाजिक स्थितियाँ भी बदलती रहती हैं। तीन युग बीत गए अब अंतिम चौथा कलियुग चल रहा है। जब जब भी आवश्यकता हुई है, भगवान अवतार लेते हैं। इस तरह के प्रभू अब तक नौ बार अवतार ले चुके हैं। जब प्रभू राम ने अवतार लिया था तब उस समय सात्विक, आदर्श लोगों के सामने रखना था अत: प्रभू राम ने अपने जीवन में आदर्श आचरण का महत्व समाज के सम्मुख रखा। द्वापरयुग की परिस्थिति अलग थी। आसुरी वृत्ति का उत्थान उस समय हुआ था इसलिये कृष्णावतार महत्त्वपूर्ण था। कलियुग में अवनति अपनी चरम सीमा पर होगी। लोग कहते हैं कि इस युग में मनुष्य अंगूठे के बराबर होगा। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य के आचार, विचार, नीतिमत्ता तथा आध्यात्मिक स्तर इस सीमा तक गिर जाएगा कि वह अंगूठे जितना बौना कहलाएगा। परन्तु यह भी सत्य है कि ईश्वर को यह बात कदापि मंजूर न होगी तब वह फिर से कल्कि के रूप में जन्म लेंगे और धर्म की रक्षा करेंगे। एक समय ऐसा आएगा कि राजसता एवं नीतिमत्ता का पूर्णतया ह्रास होगा और तब दक्षिण भारत में प्रभू जन्म लेंगे। सफेद घोड़े के आगे चलने वाले बटुक (ब्रह्मचारी) के रूप में वे होंगे। वे सामाजिक अवमूल्यन को दूर करेंगे तथा अपने ब्रह्मचर्य की ताकत के आधार पर समस्त संकटों को नष्ट करेंगे।

तात्पर्य:- वास्तव में धर्म संरक्षण का महत्वपूर्ण कार्य मानव को करना चाहिये परन्तु अपनी कर्तव्यच्युतता की वजह से वह इसे न कर पाएगा और सारे विश्व की चिंता करने वाले प्रभू को धरती पर अवतार लेना पड़ेगा।

* * * * * *

जनों के लिये मानुषी रूप लेता।
वनों में रहे देव सर्वस्वदाता ॥

चराते फिरे धेनु पूर्ण प्रतापी ।
उन्हें चीन्हते हैं न, वे घोर पापी ॥ १२६ ॥

इतवार का दिन था। संगीता के घर में कोई समारोह था । अतः बहुत सारे मेहमान घर में आए हुए थे। सुबह से संगीता को काम से एक मिनट की फुर्सत न मिली थी। वह बेचारी बड़ी मेहनती तथा निरंतर ईश्वर का मन ही मन नामस्मरण करने वाली लड़की थी। परन्तु उसकी सास को प्रत्येक काम में मीन मेख निकालने तथा संगीता को डाँटने की आदत सी पड़ गई थी। सास ने सभी मेहमानों के सामने उसे हमेशा की तरह छोटी सी बात पर खूब डाँटा। वह इस अपमान से तिलमिला गई परन्तु उसकी विवेक बुद्धि जागृत होने की वजह से उसने सास को उलट कर जवाब न दिया और मन का क्षोभ कम करने हेतु वह अपने कमरे में चली गई और जी भर कर रो लिया। कुछ समय पश्चात् उसका मन कुछ शांत हुआ तब वह कमरे के बाहर आई।

बाहर आने पर बार-बार उसका मन किसी भी रूप में ईश्वर के दर्शन के लिये तरस रहा था। हाथ तो काम कर रहे थे परन्तु मन छटपटा रहा था। इतने में उसे बाहर से एक गरीब औरत की आवाज़ आई जो पुरानी बोतलें, डिब्बे आदि लेने के लिये आई थी। वह चिथड़ों में लिपटी थी, उसकी गोद में नन्हा शिशु था और वह औरत एक फटी पुरानी साड़ी की माँग कर रही थी। संगीता बाहर आई तो उसका ध्यान नन्हें शिशु की ओर गया जो संगीता की ओर देख कर मुसकुरा रहा था और अपनी नन्हीं मुट्ठी चूस रहा था। संगीता को उस बालक के रूप में नन्हें कृष्ण भगवान दिखाई दिये और वह बहुत ही प्रसन्न हो गई। वह तुरंत अंदर गई, एक पत्तल में खाना परोसा और उस औरत को घने पेड़ के नीचे बैठा कर प्रेम से भोजन करवाया। ठंडा पानी दिया और अंत में एक पुरानी परन्तु अच्छी साड़ी उसे दी।

दोपहर का समय, बिन मांगे मिला स्वादिष्ट भोजन, ठंडा पानी और साथ ही तन ढंकने हेतु वस्त्र, इस सारे से वह गरीब औरत गदगद हो गई और उसने संगीता को जी भर कर आशीर्वाद दिये। नन्हा शिशु अब भी संगीता की ओर देखकर मुसकुरा रहा था, जैसे कह रहा हो 'तुमने हृदय से मुझे बुलाया और देखो, मैं आ गया।' अब संगीता बहुत खुश थी।

तात्पर्यः- सच्चे भक्त भगवान को किसी भी रूप में, वेष में पहचान ही लेते हैं।

✸ ✸ ✸ ✸ ✸ ✸

अरे धन्य जो राम से सौख्य पाया ।
कथा मग्न हो जो अहंभाव खोया ॥

नहीं देह की भावनाएँ बची हैं ।
सभी राम में वासनाएं गईं है ॥ १२७ ॥

चेतन प्रतिदिन 'ओंकार' का जाप करता था। कभी-कभी उस जाप में वह इतना एकाकार हो जाता था कि आस-पास क्या हो रहा है इसकी उसे सुध नहीं रहती थी। उस दिन भी वह हमेशा की तरह तन्मयता से जाप कर रहा था। आँखें बंद थीं और उसे अनुभव हो रहा था कि समूचा कमरा 'ओंकार' नाद से भर गया है। चारों और वही प्रतिध्वनि और उसी नाम की लहरें उठ रही हैं। कमरें में वह अकेला ही था। इतने में उसकी बच्ची उस कमरे में आई और चीख कर आश्चर्य से बोली, 'पिताजी, आप के कंठ पर 'ओंकार' स्पष्ट रूप से दिखाई दे रहा है।' चेतन की समाधी तब भी भंग न हुई परन्तु बच्ची की आवाज़ सुन कर बच्ची की माँ कमरे में आई और उसे भी उस 'ओंकार' के दर्शन हुए । समाधि से जागने पर चेतन ने भी आईने में 'ओंकार' के दर्शन किये और कुछ ही पलों में वे अक्षर कंठ से मिट गए।

तात्पर्य:- भक्तको प्रभू के दर्शन ऐसे भी हो जाते हैं मात्र गहरी एवं अपार श्रद्धा होना आवश्यक है।

✵ ✵ ✵ ✵ ✵ ✵

स्मरो कृष्ण जी को लगे प्यास सोई ।
न हो कामना काम से लिप्त कोई ॥
असत्कल्पना को कभी ना रखोगे ।
सदाचित्त रे ! सज्जनों में बसोगे ॥ १२८ ॥

सज्जनों की संगति रखिये, मन को प्रभू चरणों में अर्पण कीजे। काम वासनाओं पर अधिकार प्राप्त करिये। दुष्ट कल्पनाओं से बचिये।

अरे चित्त सत्संग राखो बनाए ।
भगा दुष्टता सन्मती को जगाए ॥
रती के पती का बुरा साथ होगा ।
बनोगे मनातीत तो योग्य होगा ॥ १२९ ॥

तात्पर्य:- आवश्यकता से अधिक कामवासना जीवन बर्बाद कर देती है। मधुरा भक्ति उसका एक सुंदर आविष्कार मात्र है।

✵ ✵ ✵ ✵ ✵ ✵

नहीं अल्प भी झूठ संकल्प पालो ।
सदा सत्य संकल्प जी में बसालो ॥
विकल्पों भरी जल्पना को न कीजे ।
रमाकान्त को बैठ एकान्त पूजें ॥ १३० ॥

दुबारा न ही बाण जो छोड़ता है ।
दुबारा नहीं शब्द जो बोलता है ॥
करे कार्य जो विश्व सारा उबारे ।
भजो एक ही राम को चित्त प्यारे ॥ १३१ ॥

उपासना के अन्त में।
देव-भक्त का परम मिलन।
अनुभव से जानिये ॥ श्रीराम ॥

उपर्युक्त सत्य, समर्थ रचित 'दासबोध' में अनुभव करें। मन में दृढ़ भावना रख कर, जो वास्तविक सत्य एवं विशाल है उसके प्रति मन में संदेह न रखें। दृढ़ विश्वास से अहंकार गल जाएगा और जीवन तथा जीव धन्य हो जावेंगे।

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं -

मत्कर्मकृत्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यःस मामेति पांडव ॥

हे अर्जुन जो भक्त मत्परायण हो कर, आसक्ति विरहित, भक्तियुक्त मति से समस्त कर्मों को ईश्वर के कर्म समझ कर करता है और मुझे अर्पण करता है, किसी भी प्राणि-मात्र से बैर की भावना नहीं रखता वह मुझमें विलीन हो जाता है।

चाफल (महाराष्ट्र) में धोंडिबा नामक एक गड़रिया रहा करता था। वह श्री समर्थ रामदास का परम भक्त एवं शिष्य भी था। उसने एक दिन गुरु से पूछा, 'गुरूदेव, मुझे उन्मनी अवस्था प्राप्त करना है, क्या करूँ?' स्वामीजी ने हंसते हुए कहा, 'धोंडिबा, मन का कहना मानना बंद कर दो, उन्मनी अवस्था प्राप्त हो जाएगी।'

धोंडिबा को यह उपाय सरल प्रतीत हुआ परन्तु आचरण के समय उसे उसकी कठिनाई का ज्ञान हुआ। मन कहता, 'चलो कहीं निकल चलो,' तुरंत धोंडिबा निकल पड़ता परन्तु कुछ ही पलों में उसके ध्यान में आता कि मैं तो मन की आज्ञा का पालन तुरंत कर रहा हूँ, बस, वह तुरंत रुक जाता। तब यह बात भी ध्यान में आई कि मन की आज्ञा पर ही तो वह

रुक गया है। अनुभव से उसने जान लिया कि मन तो सदैव ही संकल्प-विकल्प में लगा रहता है। मन की तरंगों की ओर साक्षी भाव से देखना आवश्यक है, इस बात को उसने अच्छी तरह से समझ लिया। अन्त में उसके मन में उठ रहे संकल्प विकल्प थम गए। शून्यावस्था प्राप्त हो गई और मन की अवस्था उन्मनी हो गई।

तात्पर्यः- जो विशाल एवं परिपूर्ण है, एकांत में उसी का दृढ़ विश्वास से चिंतन मनन करने से प्राणि मात्र का उद्धार निश्चित रूप से होना ही है।

* * * * * *

सदा सोचता है तभी बोलता है ।
क्रिया जो करे पूर्व में तौलता है ॥
सुने शब्द तो तप्त भी शांत होते ।
क्रिया शुद्ध हो सर्व ही तृप्ति पाते ॥ १३२ ॥

सही भक्त विज्ञानवेत्ता विरागी ।
सदा निश्चयात्मा सुखानंद भोगी ॥
उसे देखने स्पर्श से पुण्य आता ।
तथा उक्ति से सर्व संदेह जाता ॥ १३३ ॥

धम्मगिरी का परिसर नैसर्गिक दृष्टि से रम्य एवं भव्य है। वहां के आश्रम का शांत एवं धर्ममय वातावरण वहाँ की भव्यता को उजागर करता है। दुनियां के कौने-कौने से हज़ारों लोग अपने संतापों, दुखों एवं परेशानियों को लेकर वहाँ मन:शांति की खोज में आते हैं और मन:शांति पाते भी हैं। जन्म-मृत्यु की गहराई को जानने के उत्सुक लोग भी वहां आते हैं तथा अपनी शंकाओं का उचित समाधान पाते हैं। यह सब इसलिये होता है कि वह भूमि भगवान बुद्ध की तपोभूमि है। सत्धर्म की भूमि है। सांसारिक भय से मुक्ति पाने के लिये उन्होंने इसी भूमि पर ज्ञान प्राप्त किया था। दुखी तथा त्रस्त लोगों के सम्मुख अपने स्वयं का आदर्श उन्होंने रखा था। विवेक तथा वैराग्य का उचित मेल करवा कर भगवान बुद्ध ने उस भूमि पर तप साधना की थी। वह भूमि इन्हीं कारणों से पवित्र तथा शांत एवं सत्धर्म संस्कारित बन गई है। भगवान बुद्ध के निर्वाण के पश्चात् भी आज तक हज़ारों लाखों लोगों को उस भूमि ने धर्म के मार्ग पर अग्रसर किया है। शंकाओं से मुक्त कराया है। वहां का आश्रम जीवन शुद्ध, अनुशासनपूर्ण तब भी था, आज भी है और आगे भी रहेगा। इसका मुख्य कारण यह है कि भले ही भगवान बुद्ध देह दृष्टि से परम तत्व में विलीन हो गए हों, उनके आदर्शों और विचारों के माध्यम से आज भी वे वहाँ शाश्वत रूप में हैं।

तात्पर्यः- ज्ञानी पुरुष के सान्निध्य में अज्ञान घट जाता है, दुष्ट आशंकाएँ नष्ट हो जाती हैं।

* * * * * *

न हो गर्व का लेश, होवे विरक्ति ।
क्षमा शांति की योग की दक्ष मूर्ति ॥
न हो लोभ ना क्षोभ ना दीनता हो ।
गुणों से इन्हीं योगराजा सजा हो ॥ १३४ ॥

सीमा-विजय पत्नी पति थे। विजय तथा सीमा के आचारों विचारों में बड़ा फ़र्क था। विजय का वैचारिक स्तर बचपन से ही ऊँचा एवं सबल था। सीधा-सादा रहन सहन। कम बोलना तथा जितना आवश्यक है उतना ही सुख लेना, यही विजय का स्वभाव था । उसकी जीवन विषयक आवश्यकताएँ बहुत थोड़ी थीं। उसकी वृत्ति सात्विक एवं संतोषमयी थी। आज की दुनिया में ऐसे बिरले ही लोग होते हैं। सीमा अपने पति को समझ न पाती और उसकी दुनियाँ के साथ न चलने की वृत्ति से पति से वह नाराज़ रहती। वह बहुत बड़बड़ाती, चिड़चिड़ भी करती परन्तु विजय ने अपने मन के संतुलन को बिगड़ने न दिया। अपनी बुद्धि एवं आचरण को उसने स्थिर ही रखा। विजय प्रतिदिन 'दासबोध' का पठन एवं चिंतन करता तथा अधिकांश समय ईश्वर के नामस्मरण में बिताता। वह सज्जन था। वर्ष बीतते गए। विजय की संगत में सीमा के विचार भी बदलने लगे। एक दिन उसने सहज ही ठान लिया कि 'दासबोध' नामक ग्रंथ को वह एक बार पढ़कर देखेंगी।

ग्रंथ पढ़ने से उसके मन पर गहरा असर होने लगा। गृहस्थी में विजय का साथ तथा ब्रह्मज्ञानी दासबोध वाणी ने सीमा के मन में आस्तिक बुद्धि का उदय करवाया और उसका जीवन भी शांत, स्थिर एवं भय रहित हो गया। 'दासबोध' के निरंतर पठन एवं चिंतन का यह फल था।

तात्पर्यः- वैराग्य, क्षमाशीलता, अभिमान रहित स्थिर आचरण, लोभ विरहित जीवन ही योगियों के लक्षण हैं।

* * * * * *

धरो चित्त रे ! संगति सज्जनों की ।
करे शुद्ध बुद्धी महादुर्जनों की ॥
बने भावना श्रेष्ठ सन्मार्ग पाए ।
डरे काल भी भीति से दूर जाए ॥ १३५ ॥

यदि जीवन में सज्जनों का साथ मिल जाता है तो दुर्जन की मति भी पलट जाती है। वाचन, चिंतन, मनन से महाकाल कराल से भी भय नहीं लगता।

तात्पर्यः- सत्संग के कारण ही वाल्या से वाल्मिकी ऋषि बने।

भयों से भरा विश्व संत्रस्त जो है ।
भयातीत है भक्त जो ईशका है ॥
नहीं विश्व में द्वैत वो देखता है ।
तभी चित्त में भीति ना मानता है ॥ १३६ ॥

बड़ों ने हमें स्पष्टता से जताया ।
हमीं ने सुना ना सुना छोड़ दीया ॥
कुबुद्धी मृषा देहलिप्सा लिये है ।
पुराना रखा जो स्वयं भूलते हैं ॥ १३७ ॥

भ्रमों में फँसे लाभ को गुप्त पाया ।
तभी दुःख दारिद्र्य दुर्भाग्य आया ॥
जहाँ देह को ही बड़ा मानते है ।
पुराना खजाना रखा भूलते है ॥ १३८ ॥

भरी धुँध है मार्ग ना दीख पाये ।
अभागा लखे मूर्ति पाषाण भाये ॥
अश्रद्धा भरी, पुण्य को ठेलते हैं ।
पुराना खजाना रखा भूलते हैं ॥ १३९ ॥

उसी का उसी को नहीं प्राप्त होता ।
गुणों में फँसी बुद्धि से सर्व खोता ॥
गुणों से गुथे जाल ना तोड़ते हैं ।
पुराना खजाना रखा भूलते हैं ॥ १४० ॥

कहे दास सेवा करो जानते की ।
खरा होय ज्ञानी उसी के पदो की ॥
गुरू नेत्र खोले तभी देख पाता ।
पुराना स्वयं का सभी प्राप्त होता ॥ १४१ ॥

मनुष्य देह का अहंकार इतना अधिक होता है कि वह 'मूलधन' को पूर्णतया भूल जाता है। मनुष्य को गुरु ही 'उस' के 'मूलधन' का ज्ञान करा सकते हैं।

रामकृष्ण परमहंस एक कहानी सुनाया करते थे - एक बार एक गर्भवती सिंहनी जंगल में नदी पार कर रही थी। किनारे के समीप पहुँचते पहुँचते उसने एक शावक को जन्म दिया और उसने अंतिम सांस ली। दूर खड़ा एक किसान सब कुछ देख रहा था। उसे उस सिंहशावक पर दया आई और वह प्रेम से उसे घर ले गया। अपनी बकरियों के बीच उसने उसे रख दिया और उसकी देखभाल करने लगा। समय के बीतते वह कुछ बड़ा हुआ और बकरियों की संगत में रह कर मेऽमेऽ मिमियाने लगा। एक दिन जब वह बकरियों के साथ जंगल में घूम रहा था, एक बूढ़े सिंह की उस पर दृष्टि पड़ी। सिंह बूढ़ा होने की वजह से अनुभवी था। उसने सब की नज़र चुरा कर उस शावक को एक झप्पटे में मुँह में पकड़ा और तेजी से जंगल की ओर निकल गया। वह उसे नदी के किनारे ले गया और पानी में उसे उसकी अपनी छबि दिखाई। शावक ने अपने आप को पहचान लिया और उसी पल ज़ोर से दहाड़ा।

इसी प्रकार से अनेक जन्मों की देहबुद्धि के संस्कारों की वजह से मनुष्य अपने आप को 'देह' के रूप में ही मानता रहा है परन्तु उसका वास्तविक रूप उसकी आत्मा है।

तात्पर्य:- मात्र देह के अहंकार की वजह से हम अपने में निहित आत्मतत्व को बिसार देते हैं, जिसे मात्र गुरु ही दिखा सकते हैं।

* * * * * *

न जाने न जाने न जाने स्वयं को ।
ने छोडे न छोड़े कदा संशयों को ।।
न त्यागे न त्यागे न त्यागे अहंता ।
नहीं आत्म के रूप को प्राप्त होता ।। १४२ ।।

एक बार भगवान ईसा मसीह अपने शिष्यों के साथ नाव में जा रहे थे। बीच मंझधार में ज़ोरों का तूफान आया और नाव उलट गई। ईसा ने सभी शिष्यों से कहा कि मुझ पर विश्वास रखो और मेरी तरह पानी पर चल कर मेरा अनुसरण करो। ईसा आगे निकल पड़े। जब किनारे के करीब पहुँच कर उन्होंने पलट कर देखा तो केवल एक शिष्य उनके पीछे कुछ ही दूरी पर चला आ रहा था। ईसा किनारे पर पहुँच गए। एक पल भर के लिये शिष्य के मन में अविश्वास एवं आशंका का उदय हुआ और पानी पर अब तक चल रहे उस शिष्य का आत्मबल समाप्त हो गया और वह पानी में डूब गया।

तात्पर्यः- श्रद्धावान् लभते ज्ञानम् ।
संशयात्मा विनश्यति ॥

* * * * * *

कुविद्या अविद्या इन्हीं से घिरा है ।
भला क्या न जाने भ्रमों में फंसा है ॥
परीक्षा बिना गांठ बांधा रुपय्या ।
नहीं सत्य या झूँठ का ख्याल आया ॥ १४३ ॥

घुमो विश्व में एक ही बात देखो ।
चुनो सार निःसार सत्यांश राखो ॥
इसी खोज में खोज में ईश पायें ।
भ्रमों से भरा सर्व अज्ञान जाये ॥ १४४ ॥

मृत्यु के पश्चात् करनसेठ को आदरपूर्वक यम के दरबार में लाया गया। रूपया, पैसा, सोना, चांदी, हीरे मोती आदि सब कुछ सेठजी ने दान में दिया था। उनकी दानशीलता देखकर यमराज भी आश्चर्य में डूब गये। यमराज ने सेवकों को आज्ञा दी कि इस आत्मा को इस परिसर के सब से सुंदर बागिचे में सम्मानपूर्वक ले जाया जाय। बड़े ही आदर से, डोली में बिठा कर सेवकों ने उन्हें उस रमणीय अति सुंदर वाटिका में लाकर रख दिया और वे नम्रतापूर्वक सेठ को अभिवादन कर वहां से चल दिये। वाटिका में प्रसन्नता पूर्वक आराम करने के पश्चात् उन्हें भूख लगी। आस पास कोई सेवक न था अत: करनसेठ स्वयं ही वाटिका में फल तोड़ने हेतु निकल पड़े। वहाँ अनेक प्रकार के फलों के वृक्ष फलों से लदे थे। सेठ ने एक फल तोड़ा तब उन्हें ज्ञात हुआ कि ऊपर से रस भरे दिखाई देने वाले फलों के अन्दर रस एवं गूदे के बजाय हीरे मोती भरे पड़े हैं। सभी पेड़ों पर लगे विविध फलों का यही हाल था। वे बड़ी देर तक वाटिका में घूमते रहे परन्तु खाने योग्य एवं भूख मिटाने योग्य एक भी फल वहाँ न था। वे बहुत दुखी एवं निराश हो गए।

अन्त में उन्होंने एक सेवक को आवाज़ देकर पास बुलाया और भूख की समस्या उसके सामने रख दी। वह सेवक विनम्रभाव से बोला, 'महाराज करनसेठ जी, आप को भोजन नहीं मिल सकता क्यों कि आपने सारी उम्र हीरे, मोती, पन्ने आदि का खुल कर दान किया है परन्तु भूखे लोगों को अन्नदान कभी न किया। जो दान आप ने किया है वही आप को वापिस मिलेगा। महाराज, इतना ही नहीं, आज रात्रि सोने के लिये आप को रत्नजड़ित शय्या

भी मिलेगी।' इतना कह कर सेवक ने सेठ का अभिवादन किया और वह वहां से चल दिया।

उपर्युक्त कहानी यह स्पष्ट करती है कि मानव जन्म प्राप्त होने पर उचित ज्ञान अर्जित करो। सांसारिक सभी कर्तव्य एवं कर्म करते समय उसे 'खोटा सिक्का' समझ कर अपना आचरण उचित रखो। भ्रम में न पड़ो। अपना हित किस प्रकार के कार्य में है, इसका ध्यान रखो। समर्थ कहते हैं, 'सांसारिक माया नामक खोटा सिक्का गांठ में बांध लेने पर आत्महित कदापि सम्भव नहीं है।'

जुटा भोग्य वस्तू लगी एक चिंता ।
उसीसे जनम्ती अविद्या अहंता ॥
विचारो स्वयं से महासत्य क्या है ।
तुझे जन्म ना मृत्यु तू आतमा है ॥ १४५ ॥

करन सेठ यह अच्छी तरह से जानते थे कि अज्ञान एवं अहंभाव जीव के जन्म के साथ ही उपजते हैं, परन्तु उन्हें दुख इस बात का था कि इस सब को त्याग कर उन्होंने आत्मज्ञान को अर्जित न किया। भ्रम के बादलों का भयावह रूप उनकी समझ में आ गया था। अत: उनकी आत्मानात्म विवेक बुद्धि जागृत हो गई और वे वैराग्य की ओर झुकते गए। इसके फलस्वरूप साधना सूक्ष्म होते होते उनका स्वरूप के प्रति चिंतन अधिकाधिक प्रबल होता गया और अन्त में ज्ञान-चक्षु के माध्यम से सत्यरूपी ईश्वर दर्शन उन्हें हो गये। अज्ञान एवं अहंभाव की वजह से जीव जन्म लेता है। अहम् का लोप होने पर मुक्ति की प्राप्ति ही जीव की सहज स्थिति है।

तात्पर्य:- एक देश का रूपया दूसरे देश में अस्वीकार हो जाता है तब इस लोक में किये खोटे कर्मों को परलोक में कौन भला स्वीकारेगा?

* * * * * *

यहां वस्तुएँ दृश्य लाखों लखातीं ।
अकस्मात वे काल के पेट जाती ॥
सभी नष्ट होगा न कोई बचेगा ।
जरा सोच लो, क्या बिना नाश होगा? ॥ १४६ ॥

न टूटे न फूटे हिले ना ढले ना ।
सदा से भरा तू अहंसे दिखेना ॥

वही एक तत्तुल्य दूजा नहीं है ।
अरे चित्त सोचो बिना अन्त क्या है ॥ १४७ ॥

निराकार आधार ब्रह्मादिकों को ।
जिसे वर्णते भ्रांति होती श्रुती को ॥
विचारो स्वयं से उसी में समाओ ।
जिसे अन्त ना है उसे जान पाओ ॥ १४८ ॥

भगवान रामकृष्ण परमहंस के अनुसार - निराकार एवं साकार का भेद सरल है।जब पानी जम कर बर्फ हो जाता है तब वह पानी का साकार रूप है और बर्फ के गलने पर होने वाला पानी निराकार है। जो साकार प्रतीत होता है वही निराकार है। महासागर में अपार जल राशि होती है। उसे न किनारा है न बंधन। कहीं कहीं ठंड की वजह से बने हिम समूह उस पानी में तैरते हिम खंड दिखाई देते हैं। इसी तरह भक्तों की अपार भक्ति से ईशदर्शन हो जाता है। सूरज के ऊगते ही बरफ पिघल कर पानी हो जाता है यानी निराकार हो जाता है ठीक वैसे ही ज्ञान का सूरज साकार रूप को पिघला कर निराकार रूप सामने रख देता है।

श्रुतियाँ कहती हैं -

'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रगृह्रमेव च ।
इंद्रियाणि हयानाहु विषयास्तेषु गोचरान्॥'

बालक, जिस रथ में तुम बैठे हो वह रथ ही तुम्हारी देह है। तुम्हारी बुद्धि ही उस रथ को चलाती है अतः वह शक्तिमान सारथी है। इसके हाथों में मन की लगाम है। इन्द्रियां इस रथ के उद्दाम घोड़े हैं। विषय की ओर दौड़ने वाले इन घोड़ों को वश में करने के लिये बुद्धिरूपी सारथी से कहो कि वह मन की लगाम पर नियंत्रण करे और इस रथ को ब्रह्मरूप के मार्ग पर अग्रसर करे।

तात्पर्य:- 'यद्दृष्टं तं नष्टं' को समझ कर अव्यक्त परब्रह्म की उपासना करो।

✸ ✸ ✸ ✸ ✸ ✸

जिसे चर्मचक्षु नहीं देख पाते ।
जिसे ज्ञानचक्षु नहीं जान पाते ॥
जहां देखना दृश्य द्रष्टा नहीं हो ।
उसी में रमो जो कभी नष्ट ना हो ॥ १४९ ॥

न पीला न काला न ही रंग धौला ।
न ही व्यक्त अव्यक्त ना लाल नीला ॥
न हो हीनता, पूर्ण श्रद्धा जुटाओ ।
जिसे अन्त ना हो उसे जान पाओ ॥ १५० ॥

अरे सत्य खोजो लगातार खोजो ।
सदा बोध पाओ महाबोध है जो ॥
करो नित्य सत्संग तो प्राप्त होगा ।
उसी की कृपा से भवाब्धी तरेगा ॥ १५१ ॥

भगवान् बुद्ध के एक शिष्य मंजुश्री की कहानी

रोज़ की तरह मंजुश्री उस दिन ध्यान धारणा के लिये आसन जमा कर बैठ गया। बहुतेरे प्रयत्न करने पर भी उसके ध्यान में उसके गुरु की प्रतिमा न आ सकी। आँखों के सामने बार-बार एक पूर्ण विकसित कमल तथा उस कमल पर स्थिर एक ज्योति, दीखने लगे। उसने भगवान से मन ही मन करूणापूर्ण प्रार्थना, बिनती की कि वे उसे दर्शन दें। मानस पटल पर भगवान बुद्ध को न पाकर वह दुखी हो गया और अपने आप उसकी आँखें झरने लगीं। उसकी ऐसी अवस्था में उसे अत्यंत स्नेह भरे शब्द सुनाई दिये, 'हे बालक मंजु, कालीहृद पर्वत पर जाकर इस महान ज्योति के दर्शन करो, यह मेरी आज्ञा है।' यह भगवान बुद्ध की वाणी थी। इन शब्दों के कानों में पड़ते ही वह ध्यान अवस्था से जग गया और गुरु की आज्ञा का पालन करने हेतु उठ खड़ा हुआ। उस गांव के राजाने मंजुश्री को अपना गुरु माना था अत: शहर छोड़ने से पहले राजा से भेंट करना उसने आवश्यक समझा। राजा तथा कुछ अन्य भक्तों ने अपने गुरु के साथ कालीहृद पर्वत पर जाने की ठान ली। मंजुश्री को कोई आपत्ति न थी। वे सब निकल पड़े।

राह बहुत ही कठिन एवं ऊबड़खाबड़ थी। पग पग पर कठिनाई का सामना होने लगा। किसी समूचे दिन भोजन न मिलता तो किसी दिन पानी नहीं। परन्तु गुरु पर विश्वास रखकर सभी ने हँसते गाते रास्ता तय किया। मंजुश्री को अपने आप रास्ता सुझाई दे रहा था अत: अंत में वे सभी कालीहृद पर्वत की तलहटी तक आ पहुँचे। अब वे पर्वत चढ़ने लगे। पर्वत पर चढ़ते समय तो और भी अनेक कठिनाइयां पार करनी पड़ीं। काफी ऊपर चढ़ने पर अचानक मंजुश्री को इच्छित सरोवर के दर्शन हुए। उसने उल्लास एवं प्रसन्नता से चिल्ला कर सभी से कहा, 'अरे, देखो यही वह सरोवर है। सरोवर के दूसरे किनारे पर ज्योति दिखाई दे रही है।' ज्योति के दर्शन तो सभी को हुए परन्तु वह इतनी अस्पष्ट दिखाई दे रही थी कि मंजुश्री के

अलावा किसी और को हर्ष न हुआ। सभी के चेहरे पर यह भाव स्पष्ट था कि इतनी दूर आकर घोर तकलीफें सहकर बस यही देखना था? सरोवर में कूद कर उस ज्योति तक तैर कर जाने की प्रबल इच्छा मंजुश्री के अलावा किसी और को नहीं हुई।

सभी के चेहरे के भाव पढ़कर मंजुश्री सरोवर में कूद गया और तेजी से ज्योति की ओर तैर कर जाने लगा। उसने यह भी न सोचा कि सरोवर कितना गहरा है, अथवा उस में भयानक जलचर हो सकते हैं। अपने गुरु भगवान बुद्ध पर पूरा विश्वास एवं श्रद्धा थी उसकी और गुरु की आज्ञापालन ही उसका ध्येय था। वह बहुत समय तक तैरता रहा। अंत में उस कमल तक पहुँच गया जिस में ज्योति जल रही थी। वहाँ पहुँच कर वह मानो अपनी सुध-बुध ही खो बैठा। उस परम दृश्य को देखकर वह ठगा सा रह गया। वह कमल तथा ज्योति न पीले थे न सफेद। न श्याम न नीले। वे दृश्य भी न थे और अदृश्य भी नहीं। मात्र गुरु पर विश्वास एवं श्रद्धा के फलस्वरूप उसे उस महान् ज्योति के परम दर्शन हुए।

महत्तत्व को खोज पाना कला है।
जिसे पूर्ण श्रद्धा उसे वो मिला है॥
उसी को सभी सृष्टि का सार मानो।
अरे विश्व से वो निरालाहि जानो॥ १५२॥

जिसे पिण्डब्रह्माण्ड चर्चा न देवे।
जिसे योग ना याग ना त्याग देवे॥
निरे ठाठसे ना समाधान आता।
समाधान सत्संग ही एक देता॥ १५३॥

पंचमहाभूतों के मिश्रण में 'मयसभा' का निर्माण हुआ था। सुंदर गलीचा समझ कर दुर्योधन ने अपने कदम जिस पर रखे वह पानी की सतह पर बनी रंगोली थी। दुर्योधन धोखा खा गया और पानी में गिर गया। इसी तरह सुषुप्ती तथा उन्मनी अवस्थाएं भिन्न हैं। आकाश तथा ब्रह्म एक नहीं हैं। परब्रह्म का आभास निर्माण करवाने वाला आकाश जड़ है, शून्य है अर्थात् अज्ञान का प्रतीक है। शायद शून्य का अनुभव एक महान अनुभव कहलाता होगा परन्तु ब्रह्म शून्य नहीं है। वह शून्य से परे सूक्ष्म, चेतनामय ज्ञान है।

तात्पर्य:- जिस प्रकार से चावल में मिले चावल से दीखने वाले कंकर चावल नहीं हो सकते, ठीक उसी प्रकार से आकाश, आनंदमय ब्रह्म की बराबरी नहीं कर सकता।

* * * * * *

महावाक्य तत्वार्थ चर्चा चलाई ।
अरे भीतरी बात ना ध्यान आई ॥
भले नीम की शाख को है बताता ।
उसे छोड़ता, चंद्र को देख पाता ॥ १५४ ॥

न देखे जनों में वहीं खोजता है ।
लखो ठीक से तो यहीं पे छिपा है ॥
उठाने बढ़ो तो नहीं हाथ आता ।
बना सर्वव्यापी नहीं बोध होता ॥ १५५ ॥

जिस प्रकार से ज़मीन पर बिखरा पारा हाथों से उठाया नहीं जा सकता उसी प्रकार से सर्वत्र भरा हुआ परमतत्व भी पकड़ में आना कठिन है। संत महात्मा ही इसे जान सकते हैं। अपने ज्ञान-चक्षुओं के माध्यम से उन्हें 'सत्वस्तु' के दर्शन होते हैं। विश्व रचना के चार प्रमुख घटक हैं, अंग हैं -

१) परब्रह्म निश्चित जानिये।

२) मूल-माया चौदह प्रकारों अथवा नामों से सजी है।

३) पंचमहाभूत ।

४) चारखाने ।

नीम की शाखा :- सुप्रसिद्ध चंद्रशाखा न्याय, द्वितीया की चंद्रकोर दिखाने के लिये कहा जाता है, उस नीम की शाखा को देखो । शाखा साधन है साध्य चंद्र है। उसी प्रकार सगुणमूर्ति साधन है। निर्गुण निराकार परमेश्वर साध्य है। उपर्युक्त चारों अंगों के दर्शन संत लोग अपने परम शिष्यों को अवश्य कराते हैं। वे उसे संकेतों के आधार पर करवाते हैं।

तात्पर्य :- चहुँ ओर बिखरी 'सद्वस्तु' संतों के ज्ञान माध्यम से देखी जा सकती हैं। एक बार उसका दर्शन हो जाय तब दिग्दर्शक आधारों को अपने आप भुलाया जा सकता है।

* * * * * *

उसे बाह्य मैं ढूंढना मूर्ख जैसा ।
परे तर्क जो है वहां तर्क कैसा? ॥
न वो देखता है बची है अहंता ।
उसे देखता जो तदाकार होता ॥ १५६ ॥

बचपन में दादीजी ने एक कहानी सुनाई थी –

मेंढक का एक छोटा.बच्चा खेल रहा था। छोटा था अत: उसने दीन दुनिया देखी न थी। परन्तु वह बड़ा ऐंठवाज था। नन्हे मेंढक ने अपनी मां से कहा, 'मैं धूम कर आता हूं।' मां ने रास्ते तथा खतरनाक वस्तुओं से उसका परिचय करवाना चाहा परन्तु अपनी मस्ती में वह वैसे ही भाग गया। कुछ दूरी पर उसे एक बैल दिखाई दिया। उसे बैल ने चिढ़ाया तब उसने बैल के बराबर ऊंचा तथा मोटा होने की ठान ली। अपने शरीर में वह हवा भर कर फूलने लगा। बढ़ते बढ़ते वह इतना बढ़ा कि अंत में हवा के आन्तरिक दबाव के कारण वह फट कर मर गया। अन्त तक वह बैल के बराबर बड़ा एवं मोटा हो न पाया।

तात्पर्य:- अहंभाव अर्थात् 'मै' वाला भाव, परमतत्व की राह का सबसे बड़ा रोड़ा है। जब 'अहंभाव' घुल जाता है तब 'उस' के दर्शन होते हैं और जीवन में फिर कभी भी अहंभाव पनप नहीं पाता है।

✸ ✸ ✸ ✸ ✸ ✸

बड़े शास्त्र है ग्रंथ भी है अनेकों ।
नहीं काम के जो न दे निश्चयों को ॥
जहां शास्त्र पांडित्य 'मैं तू' सिखाये ।
वहां सद्‌गती कौन कैसे दिखाये? ॥ १५७ ॥

श्रुतियाँ स्मृतियां मिमांसा बड़ी है ।
तथा तर्क वेदान्त की भी झड़ी है ॥
सहस्त्रों मुखी शेष भी मौन पावे ।
सभी छोड़ दो चित्त नि:संग होवे ॥ १५८ ॥

समाज में रहने वाले विविध पंडितों के आपसी तीव्र मतभेदों के कारण लोग ईश्वर, भक्ति, ज्ञान आदि को लेकर संभ्रम में पड़ जाते हैं। गिरिजाबाई की समझ में यही नहीं आ रहा था कि वे कौन से भगवान् की भक्ति करें अथवा किसे आराध्य देवता बनाएँ। कौन से धार्मिक ग्रंथों को पढ़कर श्रद्धा को बढ़ाएँ, ज्ञान बढाएं तथा आत्मोन्नति कर के सूक्ष्म को पहचाने। किसी ने गिरिजाबाई को कृष्ण की महानता अथवा देवत्व का बखान किया तो वे तुरंत 'श्रीकृष्ण' के नाम का जाप शुरू कर देती और भगवद्‌गीता का पाठ शुरू कर देतीं। यह करते-करते यदि किसी कर्मयोगी से भेंट हो गई तो मन में भक्ति योग के प्रति अविश्वास एवं तूफान खड़ा हो गया। उसे पूर्णतया समझने से पहले दुर्भाग्यवश यदि किसी ज्ञानी (?)

पंडित से पाला पड़ गया तो समझ लीजिये अब तक के सारे किये कराए पर पानी फिर गया। किसी भी पंथ के धार्मिक ग्रंथों का वे उचित एवं श्रद्धापूर्वक अभ्यास न कर पातीं। उनका मन किसी भी जगह स्थिर नहीं हो पाता और इसका परिणाम यह हुआ कि उनके मन में एक प्रकार का भय समा गया और वे शंकर, राम, कृष्ण, विट्ठल आदि सभी देवताओं की आराधना का प्रयत्न करती रहतीं।

ऐसी ही संभ्रामावस्था में सारा जीवन बीत गया। अंत समय आया। उन्होंने सभी देवताओं को बारी-बारी से बुलाना आरंभ कर दिया। परन्तु किसी एक जगह पर दृढ़ श्रद्धा अथवा निष्ठा न होने के कारण कोई भी न आया। समाज में पंडितों अथवा जन साधारण में हो रहे विवादों, शब्दाडम्बर के जंजाल में जिस तरह से गिरिजाबाई अटकीं थी, बहुजन समाज भी अटका पड़ा है। ईश्वर को पहचानने, जानने के लिये मौनावस्था के महत्व को बेचारे जान नहीं पाते।

सच्चे संतों के लक्षण इस प्रकार हैं -

अलग अलग साधु दीखैं
फिर भी वे सब एक हैं
सच्चे साधुओं का एकत्र होना
देह के पार है ॥ श्रीराम ॥

तात्पर्य:- एकंसत् विप्रा: बहुधा वदंति ॥

* * * * * *

जहां ज्ञान की मक्षिका भक्ष्य होती ।
नहीं अन्न को पेट में स्थान देती ॥
अहंभाव का रोग जो पालता है ।
उसे ज्ञान का अन्न भाता नहीं है ॥ १५९ ॥

एक विशाल आम्र वृक्ष था। घने पत्ते, मजबूत डालियां, मीठे फलों से वह लदाफदा वृक्ष था। उसे अपनी विशालता पर गर्व था। उस विशाल वृक्ष के तले नरम नरम दूब ऊगी थी। उसी दूब का एक अंकुर आराम से हवा में हिलडुल रहा था और बड़ा खुश हो रहा था। उसे देख कर वृक्ष ने उसकी खिल्ली उड़ाते हुए उपहास पूर्वक कहा, 'इतनी सी जान और मस्ती कितनी? तुम तो इतने नाजुक हो कि पल भर में नष्ट हो सकते हो। मेरी ओर देखो, मैं बचपन से ही दृढ़ और मजबूत हूं। तुम से मुझ में अधिक ताकत है। मैं कभी भी किसी के आगे आज तक न झुका हूँ और न ही झुकूँगा। मुझे किसी से भी भय नहीं लगता। मैं सदा निर्भय हूं।'

यह सुनकर दूब के अंकुर ने धीरे से कहा, 'अच्छा है भाई तुम सदा निर्भय हो परन्तु विश्व की सर्वश्रेष्ठ शक्ति के आगे सभी को झुकना चाहिये, विनम्र होना चाहिये। नम्रता तो सद्गुण है।' दुर्वांकुर की बात सुनकर वृक्ष खिलखिलाया और बोला, 'महाशक्ति, भगवान आदि सब कुछ झूठ हैं। मैं इस पर विश्वास नहीं करता हूँ।' वह बेचारी चुप रह गया।

दूसरे दिन बड़े ज़ोरों का तूफान आया। जम कर बरसात हुई और उस अंधड़ में वह विशाल वृक्ष उखड़ गया। तूफान के ज़ोर के सामने वह टिक न पाया और नाज़ुक छोटा सा दूर्वांकुर विनम्रता से तब तक सिर झुकाए रहा, जब तक तूफान गुज़र न गया।

तात्पर्यः- तूफान और बाढ़ में महावृक्ष उखड़ जाते हैं परन्तु कोमल दूब जीवित रहती हैं।

* * * * * *

न छेड़ो कदा वाद जो खेदकारी ।
न हो चित्त में भेद नाना विकारी ॥
स्वयं को गुरूयोग्य क्यों मानता है ।
अहंकार जो भीतरी पालता है ॥ १६० ॥

काशी में बसने वाले महान् पंडित शास्त्री वासुदेव येव लेकर पुणे में महापंडित गागाभट्ट के यहाँ पधारे। समय दिन का था और उनके हाथ में एक जलती मशाल थी। वे गागाभट्ट से बोले, 'मैं बनारस से जब चला था तब से यह जलती मशाल मेरे हाथ में मैंने थाम रखी है। मैंने अब तक मिले सभी पंडितों को शास्त्रार्थ में हरा दिया है। मैं आप से भी शास्त्रार्थ करना चाहता हूँ। यदि मैं हार गया तो इस मशाल को बुझा दूँगा और अपनी ज़बान काट कर आप के चरणों में रख दूँगा। परन्तु यदि हार आपकी हुई तब आप को मेरे आधीन रहना होगा।' यह सुनकर गागाभट्ट मुस्कुराए और बोले, 'पंडित जी बेहतर तो यह होगा कि यहां से नज़दीक ही सातारा शहर है, वहाँ पर समर्थ रामदास रहते हैं। वे मुझसे भी अधिक विद्वान तथा ज्ञानी हैं। आप उन्हीं से शास्त्रार्थ क्यों नहीं करते?' पंडित जी को बात जंच गई और वे तुरंत सातारा रवाना हो गए।

सातारा में वे समर्थ रामदासजी से मिले तथा अपने आने के प्रयोजन को स्पष्ट किया। उनकी बात हो ही रही थी कि सामने से एक आदमी गुजर रहा था। रामदास ने उसे अपने पास बुला कर पूछा, 'तुम कौन हो?' उसने जवाब दिया, 'मैं शूद्र हूं।' रामदासजी ने अपने हाथ की लकड़ी से ज़मीन की मिट्टी में एक रेखा खींची और उस आदमी से उसे पार करने के लिये कहा। पार करने पर फिर उससे पूछा, 'तुम कौन हो?' बड़े ही आत्मविश्वास से वह बोला, 'मैं वैश्य हूँ।' फिर रामदास जी ने एक और लकीर खींची, उससे पार करवाई और

पूछा, 'अब बताओ तुम कौन हो?' वह आदमी दृढ़तापूर्वक बोला, 'मैं क्षत्रिय हूँ।' स्वामी जी ने फिर लकीर खींची और उसे लांघने को कहा। उसने लांघते ही उन्होंने उसे पूछा 'तुम कौन हो?' उसने कहा, 'मैं ब्राह्मण हूँ।'

रामदासजी शास्त्रीजी की ओर मुड कर बोले, 'आप इस के साथ शास्त्रार्थ करें, प्रश्न पूछें।' पंडित जी यह सारा माजरा देख कर चकरा गए फिर भी उन्होंने उस आदमी से अनेक गहन प्रश्न पूछे। प्रत्येक प्रश्न का उस आदमी ने दृढ़तापूर्वक सटीक स्पष्ट उत्तर दिया। अंत में पंडित जी हार गए। उन्होंने हार मानते हुए अपने हाथ की मशाल को बुझा दिया और अपनी ज़बान वे काटने ही वाले थे कि रामदासजी ने उनका हाथ पकड़ लिया। स्वामीजी ने अपने परमशिष्य कल्याण को बुला कर उसे पंडित जी को समझाने की आज्ञा दी। आगे चलकर पंडित येवलेकर शास्त्री, समर्थ रामदास के शिष्य बन गए।

तात्पर्य:- 'सत्यशोधन' ज्ञान बढ़ानें, खोजने के प्रयोजन से होना चाहिये अन्यथा बेकार के विवाद से मात्र अप्रियता ही ऊपजेगी।

* * * * * *

अहंकार है दुःख ही दुःख देता ।
निरी ज्ञान चर्चा नहीं लाभ होता ॥
रहोगे सुखी तो महासौख्य पाओ ।
अहंता कहां है जरा खोज ले ओ ॥ १६१ ॥

पांचों पांडवों का एक और जेष्ठ भाई था कर्ण। अपने पूर्व कर्मानुसार बड़ा अपमानित जीवन जी रहा था। जिस कोख से पांच अहंकार रहित पुत्रों ने जन्म लिया था उसी कोख का जाया कर्ण अहंकारी था। उसके अहंकार को तब और ठेस पहुँची जब द्रौपदी ने उसे अस्वीकार किया। और इसीलिये वह संतप्त हो गया और द्रौपदी के वस्त्र हरण के लिये उसने दुर्योधन, दुःशासन को उकसाया। ऐसी दुर्बुद्धि केवल अहंकार के कारण ही ऊपजी।

तात्पर्य:- हे मन अहंकार को त्याग और परमतत्व में लीन हो कर सुख को प्राप्त कर।

अहंताभर नीति को छोड़ देता ।
उसी रीति से ढोल झूठे बजाता ॥
तभी अंतरात्मा उसे कोसती है ।
घिरी दुःख से बुद्धि भी छोड़ती है ॥ १६२ ॥

दुर्योधन जनम के साथ-साथ अहंकार का कवच भी साथ लाया था। यदि अहंकार

उसके साथ न होता तो प्रत्यक्ष श्रीकृष्ण भगवान को देखने सुनने वाले दुर्योधन में क्या परिवर्तन न होता? कितना बड़ा दुर्भाग्य है कि भगवान के साथ रहते हुए भी वह कुछ न समझ सका। जो लोग अहंभाव के साथ जीते हैं उन्हें उनके चारों ओर घेरे रहने वाले लोगों में से कुछ लोग सिर पर चढ़ाए रखते हैं।

अनीति से चलने वाले राजा के अहंभाव को बढ़ाकर उसे गर्त में ढकेलने वाले कई लोग राजदरबार में भी होते हैं। धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र आदि को ताक पर रखकर राज करने वाले अत्याचारी राजा अपने साथ प्रजा का भी सर्वनाश करते हैं।

तात्पर्य:- हे मन अहंकार को त्याग और परमतत्व में लीन होकर धर्म तथा नीति का आचरण कर।

✹ ✹ ✹ ✹ ✹ ✹

हुई देह से प्रीति आसक्ति गाढ़ी ।
उसी से गुणातीत की भक्ति छोड़ी ।।
न हो बुद्धि देहात्मिका आत्मिका हो ।
सदा मित्रता सज्जनों से घनी हो ।। १६३ ।।

तजो कल्पना, कल्पना भोग जो है ।
जुड़ो चित्त से निर्गुणी ईश जो है ।।
नहीं कल्पना जल्पना व्यर्थ की हो ।
सदा मित्रता सज्जनों से बनी हो ।। १६४ ।।

जब शिशु का जन्म होता है तब बारहवें दिन बड़े ही ठाठ बाट से उसका नामकरण संस्कार होता है। पूरा जीवन यथा समय, यथा तरीके से बीत जाता है और तब आता है अंतिम समय। जैसे ही 'जान' निकल जाती है, मृत शरीर को कंबल पर रखने की जल्दी मच जाती है। उस जड़ को बहुत जल्दी अंतिम बिदा देने की विधि भी सम्पन्न हो जाती है। जीवन में ऐसे अनेक प्रकार के संस्कार किये जाते है। मनुष्य जिसे देखने का अभ्यस्त है। परन्तु ऐसा कोई बिरला ही होता है जो इस से मुक्ति पाने की परम इच्छा रख कर साधना कर के जन्म-मरण के फेरे से छुटकारा पाने का प्रयत्न करता है। सफल भी हो जाता है। साधना के लिये सत्संग परम आवश्यक है। माराठी की महान कवियत्री संत बहणाबाई कहती हैं।

मन मनमौजी रे मनमौजी
वह दस दिसाओं में घूमे

जैसे हवा के झोंके से
पानी की लहरें दौड़ें दौड़ें।

समर्थ रामदास कहते हैं कि कल्पना के साम्राज्य में मनमौजी की तरह घूमने वाले मन को ईश्वर के, त्रिगुणात्मक ईश्वर के कल्पना साम्राज्य में घूमने फिरने दो। उन्मुक्त विहार करने दो। इसी कल्पना जाल में भटकते भटकते एक दिन वह अवस्था प्राप्त होगी कि कल्पनाओं का जाल अदृश्य होगा और देहबुद्धि से आत्मबुद्धि तक का प्रवास सहज सरल होगा। परन्तु इस सारे के लिये सज्जनों की संगति परमावश्यक है। सत्संग से माया को डर लगता है।

तात्पर्य:- माया बड़ी विचित्र है। उसे समय से पहचानो। संतों सज्जनों की संगति करो और भवसागर को पार करो।

* * * * * *

वृथा देह संसार को बोलता है ।
अहा चित्त में लोभ को पालता है ॥
तुम्हें भक्ति की मुक्तिमाला मिली हो ।
सदा मित्रता सज्जनों से बनी हो ॥ १६५ ॥

मनुष्य सदैव अपनी गृहस्थी, अपना देह, अपने आप्तजनों के चिंतन में लगा रहता है और इसीलिये वह ईश्वर से दूर चला जाता है जिसके फलस्वरूप उसे फिर से जन्म लेना पड़ता है। मतलब एक बार की मृत्यु से उसे मुक्ति नहीं मिल जाती। वासनाओं के आधीन मन का पुनर्जन्म निश्चित् होता ही है। इस प्रकार वह प्रत्येक जन्म में आत्मघात करता है। यानी चक्रवृद्धि ब्याज की तरह वह प्रत्येक जन्म में बढ़ता ही रहेगा। यदि संसार में मनुष्य अलिप्त भाव से प्रत्येक कर्म करे, भगवान का चिंतन करे तथा 'मुक्तिरूपि पत्नी' के अलावा किसी और वस्तु की आस न धरे तब ही जन्म सफल होगा।

तात्पर्य:- सत्संगति से मनुष्य देह के प्रति रही आसक्ति को कम करवा कर, ईश्वर की रट लगाए रहे तब 'उस' के दर्शनों से वह मुक्ति पा लेगा।

* * * * * *

अहंकार है देह का भू धनों का ।
महामोह है पुत्र कांतादिकों का ॥
मिटे भ्रांति ये जन्मचिंता टली हो ।
सदा मित्रता सज्जनों से बनी हो ॥ १६६ ॥

गुड़ की डली को चारों ओर से चींटे लग जाते हैं उसी तरह जीव के जन्मते ही तमाम रिश्तेदार नातेदार उसके करीब आ जाते हैं। आजीवन मनुष्य अपनी गृहस्थी तथा नातेदारों से घिरा रहता है। उसका अपना क्या छूट रहा है इसका न तो उसे ज्ञान है न भान। गुड़ की डली का अंतिम रवा समाप्त हो जाने पर जिस तरह चींटे भी वहां से गायब हो जाते हैं ठीक इसी तरह जब कोई मतलब नहीं रह जाता तब अपने भी पराए बन जाते हैं। सज्जनों की संगति में उसे इसका उत्तर मिलता है -

। नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि। नैनं दहति पावक:।

जिसे शस्त्र मिटा नहीं सकते, अग्नि जला नहीं सकती वह 'आत्मरूप' ही तुम्हारा अपना है।

मज़े की बात तो यह है कि मनुष्य यह नहीं समझ पाता है कि सत्य क्या है, असत्य क्या है? इस ओर उसका ध्यान ही नहीं जाता । जो कभी भी अपना नहीं था, नहीं है और न होगा, उसी के पीछे दौड़ने में जीवन बीत जाता है। अहंकार का यही अंत है । स्वप्नमय दृश्य से बाहर निकलना है तो पहले यह जान लेना होगा कि सारा विश्व ही एक महान स्वप्न है। मनुष्य को इस अवस्था से बाहर निकलने के लिये सत्संगति कर के जीवन के अर्थ को समझना होगा। तन मन धन से साधना में जुट जाना होगा। ऐसा करने से मोह, जड़ से दूर होगा और उचित समय पर जीव आत्मानंद का अनुभव करेगा। सत्संगति से निष्काम कर्म योग स्पष्ट होता है। अहंकार को जलाने के लिये निष्कामता रूपी औषधी ही उपयुक्त होती है।

भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं -

यस्त्वीन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियै: कर्मयोगमसक्त:स विशिष्यते ।।

जो मन से इन्द्रियों का नियमन करता है और आसक्ति रहित हो कर्मयोग का आचरण करता है, हे अर्जुन वह श्रेष्ठ है।

तात्पर्य:- अहंकार की वज़ह से, जो देह का मूल हेतु है वह नष्ट हो जाता है। यदि सत्संगति की जाय तो जीव रोगमुक्त हो जाएगा और हे शिष्य यही रहस्य है, मुख्य जानने की बात है।

तू स्वयं ब्रह्म है
इस में संदेह नहीं ॥ श्री राम ॥
जीव इस बात का अनुभव करेगा।

* * * * * *

नही जो विनाशी उसे जोड़ लेना ।
कहे दास संदेह को भूल जाना ॥
अरे पूर्ण सार्थक्य आयुष्य का हो ।
सदा मित्रता सज्जनों से बनी हो ॥ १६७ ॥

रखे वृत्ति जो सत्य वो संत जानो ।
दुराशा न हो दैन्य, वो संत जानो ॥
अरे देह में, भावना नाश लाती ।
नहीं सज्जनों को कभी बांध पाती ॥ १६८ ॥

एक बार मन को यदि विश्वास हो जाये कि संसार माया व्यर्थ है । प्रत्येक दृष्यमान वस्तु पानी के बुलबुले की तरह अशाश्वत, मिथ्या है और देह पर अपना अधिकार नहीं है तब -

मैं वस्तुत: कौन हूँ ? और मेरा अपना क्या है ? इन प्रश्नों की खोज में जीव (मन) जुट जाता है। जब तक शाश्वत सत्य की खोज वह नहीं कर लेगा, वह चौन से बैठेगा नहीं।

इसी निश्चय को ले कर वह ईश्वर की खोज में निकल पड़ता है। यदि मन का अहंकार छूट गया तो समझो उसी पल ईश्वर मिल गया। उस परमशक्ति ने मात्र एक जीव ही नहीं वरन समूचा ब्रह्माांड एक अंहकार 'एकोऽहम्-बहुस्याम्' की जड़ से निर्माण किया है इसलिये उस अहंकार की जड़ इतनी सूक्ष्म एवं मजबूत जीव वाली है कि श्रद्धापूर्वक जीवन जीते समय कभी भी वह धीरे से अपना अस्तित्व जता कर साधक को साधना से दूर हटाने का प्रयत्न करती है। यह क्रिया इतनी सहज होती है कि कभी भी साधक के लिये त्रासदी सिद्ध हो जाती है। और तब मन में ईश्वर के न होने की शंका भी आने लगती है। संदेह निर्माण हो जाता है। इस का मुख्य कारण है पिछले कई जन्मों से देह में गहरा बिंधा हुआ अहंकार। कुछ आगे चलते कुछ पीछे सरकते हुए ही निर्गुण की खोज करनी होती है।

है मन की वृत्तियां अपरा। जिस में वासना जनमें बारबार।
ऊपर देखते वासना दीखत नाही। पर अस्तित्व टलत नाही ॥ श्रीराम॥

कफ, पित्त, वात आदि सूक्ष्म रूप में वासना हमें डिगाती है।

तात्पर्य:- संदेह तथा श्रद्धा दोनों ही साथ हो और यदि संदेह से छुटकारा पाना हो तो सत्संगति आवश्यक होती है।

* * * * * *

चिदात्मा कहां? संत को पूछ लेना ।
अहंकार विस्तार को भूल जाना ।।
गुणातीत हो निर्गुणी को स्मरे जा ।
पिपासा भरी देह को भूलता जा ।। १६९ ।।

महाज्ञान देहात्मता को भगाये ।
विवेकी विशेषज्ञ ही देव पाये ।।
तदाकार होना नहीं जानते हो ।
इसी से उसी की सदा शोघना हो ।। १७० ।।

एक बार संत तुकडोजी महाराज अपने कुछ शिष्यों के साथ रात्रि के समय बैलगाड़ी में प्रवास कर रहे थे। आधी रात के करीब सभी शिष्य जब निद्रित अवस्था में थे तब मात्र तुकडोजी महाराज अन्तर्बाह्य रूप से जाग रहे थे । बैल अपने मार्ग पर आराम से आगे चल रहे थे। अचानक बैल रुक गए। गाड़ी के रुकते ही शिष्य जग गए और अपने आप को उन्होंने डाकुओं से घिरा पाया। डाकुओं ने डांट डपट कर सभी से नीचे उतरने को कहा। डरे हुए सारे शिष्य बैलगाड़ी से उतर गए और पेड़ों तले जा खड़े हुए। महाराज वहीं गाड़ी में बैठे रहे और निडर परन्तु शांत एवं मधुर स्वरों में गाने लगे –

हर देश में तू, हर वेश में तू।
तेरे नाम अनेक पर तू एक है ।।
सागर से फूटा बादल हो कर ।
बादल से फूटा तू जल हो कर ।
कहीं नहर बना, बना नदियाँ गहरी ।
तेरे भिन्न प्रकार, पर तू एक है ।।
यह दृष्य दिखाया है जिस ने।
वह गुरु देव की पूर्ण दया।
तुकड्या कहे और तो कोई नहीं।
बस तू और मैं सब एक ही है।
बस तू और मैं सब`क ही है।

आर्तसुरों में दृढ़ भाव से गाया यह सुरीला भजन सुन कर डाकुओं का सरदार गद्गद् हो गया। महाराज के मुँह से यह बखान सुनकर कि 'तू और मैं सब एक ही हैं' उसने महाराज के पैर पकड़ लिये। सत्संगति का यह उदाहरण बिरला ही है।

तात्पर्य:- 'मै' और 'मेरा सव कुछ' वाले भाव को त्याग कर संतों की शरण जाना है। उस परमात्मा के बारे में जानना है।

✸ ✸ ✸ ✸ ✸ ✸

ज्ञान हेतु तनबुद्धि तजिये
विवेक से निजरूप को भजिये।
सहज वृत्ति तन्मय ना होवै
निदिध्यास कर उस को खोजै ।।

खेतड़ी के महाराज ने एक नर्तकी को गायन हेतु आमंत्रित किया था। वह नर्तकी संत मीराबाई, सूरदास, कबीर आदि के भजन बहुत ही प्रभावी एवं आर्त कोमल सुरों में गाया करती थी। अत: महाराज ने स्वामी विवेकानन्द जी को भी आमंत्रित किया। महाराज के निमंत्रण का मान रखते हुए स्वामीजी वहां पधारे। परन्तु यह कह कर कि 'मैं नर्तकियों की महफिल में नहीं रुक सकता' वहां से निकलने ही वाले थे कि नर्तकी ने अति दीन सुरों में संत सूरदास का भजन गाना शुरू कर दिया-

प्रभु मेरे औगुन चित न धरो ...

भजन के वे भाव जिसमें नदी के भिन्न अपवित्र प्रवाहों के गंगा से मिल जाने पर वे भी पवित्र कहलाती है, लोहे का एक टुकड़ा भगवान की मूर्ति तथा दूसरा कसाई की छूरी बनता है, फिर भी औगुणों के रहते पवित्र स्पर्श से वे पावन है, आप मुझ दीन को पावन करें। सुन कर स्वामीजी वहीं ठिठक गए। उनके मन ने कहा, 'समूचे विश्व में एक ही चेतना है यह मैं क्यों कर भूल गया? मैं संत अथवा स्वामी और वह नर्तिका, यह भेदभाव मेरे अंदर क्यों कर ऊपजा?' इसी सोच ने उन्हें देह बुद्धि के नष्ट करने की प्रेरणा दी और स्वामी जी ने अत्यंत आदर से नर्तकी को प्रणाम किया।

तात्पर्य:- विश्व में चहुँ और, सभी दिशाओं में एक मात्र वही बसता है और मैं एक आत्मा हूँ इसी गहन विचार के आधार पर देह बुद्धि का त्याग किया जा सकता है और इस साधना के लिये निरंतर 'उस' की आस करते रहो।

✸ ✸ ✸ ✸ ✸ ✸

छिपा है सभी से महत्तत्त्व जो है ।
दिखे लोचनों से निरां दृश्य जो है ।।

निराकार है निर्गुणी गूढ़ सा है ।
अहंकार के, कल्पना के परे है ॥ १७१ ॥

दोपहर की कड़ी धूप। रेगिस्तान में चहुँ ओर बेहद गर्मी छाई हुई। सब कुछ उजाड़। कहीं भी पानी का नामोनिशान नहीं। बेचारा एक हरिण इस रेगिस्तान में भटक गया था। उसे रास्ता नहीं सूझ रहा था। धूप के मारे वह झुलस गया था और उसे बेहद प्यास लगी थी।

पानी की खोज में इधर उधर भटकते उसे दूर चमकता हुआ पानी का सरोवर दिखाई दिया। लंबी कुदान भरता हुआ वह तृषित मृग वहां पहुँचा पर वहां सिवाय रेती के और कुछ न था। 'मृगजल' के आभास ने उसे छला था। कई बार उसे कुछ दूरी पर जल नज़र आता परन्तु वहां पहुंचते ही वह मात्र आभास सिद्ध होता। इधर उधर दौड़ते दौड़ते वह थक गया और प्यास से व्याकुल होकर एक जगह लुढक गया। उसे उसकी मौत करीब दीखने लगी। वह आंखे मूंदे लेटा रहा। अचनाक उसे एक ऊंट की आवाज़ ने जगाया। ऊँट उससे बोला, 'रे मूरख मृग, मैं कब से तुम्हें इधर उधर दौड़ते हुए देख रहा हूँ। यदि उचित विचार से, उचित मार्ग पर दौड़े होते तो तुम्हें यही पास की झाड़ी के तले, इस रेगिस्तान के बाहर एक छोटा सा झरना दीख जाता जो कभी भी सूखता नहीं है। मात्र आभास के पीछे निरंतर दौड़ते रहने से तुम्हारी यह हालत हुई है। आभासों ने तुम्हें राह से भटका दिया है।

उपर्युक्त कथा के अनुसार ही यदि हम देहाहंकार की परिधि में घूमते रहे तो हम आभास रहित निर्गुण तत्व को नहीं पा सकते। मृगजल की तरह सिर्फ आभासों के चक्कर में पूरा जीवन बीत जाएगा। 'परमतत्व' को देखने के लिये चर्म चक्षुओं का कोई उपयोग नहीं। उसके लिये ज्ञानचक्षुओं को खुला रखना होगा। ज्ञानचक्षु को खोलने के लिये साधक को निज प्रयत्न करने होंगे। अनुभूति लेनी होगी।

तात्पर्य:- चित्त, मन, बुद्धि, अहंकार, सारे इन्द्रिय, नातेदार रिश्तेदार, पाप, पुण्य आदि भ्रामक कल्पनाएं, देहबुद्धि के कक्ष तक सीमित हैं। इस कक्ष की दीवारों को तोड़कर हमें ज्ञानचक्षु के सहारे 'परमतत्व' की खोज करनी होगी।

* * * * * *

वृथा भोग की कल्पना दे अविद्या ।
करे ब्रह्म की कल्पना, वो सुविद्या ॥
बनी द्वैत की कल्पना, कल्पना से ।
विवेकी बनो तो जुड़ो आतमासे ॥ १७२ ॥

दोनों भाई पतंग उड़ा रहे थे। बड़े भाई की पतंग अधिक ऊँचाई पर तो छोटे भाई की पतंग कम ऊँचाई पर उड़ रही थी। छोटे की इच्छा थी कि उसकी पतंग बड़े भैय्या की पतंग से ऊँची पहुँचे, पर ऐसा हो नहीं पा रहा था। बड़े भाई को ठिठोली सूझी। वह छोटे से बोला, 'छोटे, यदि तुम्हें अपनी पतंग और ऊंचाई पर, ले जानी है तो पहले मेरी पतंग का पीछा कर के उसे पकड़ो।' बड़े भाई की बात सुन कर छोटू पागलों की तरह इधर उधर पतंग के पीछे दौड़ता रहा। अन्त में बड़े भाई ने कहा, 'छोटू, इस तरह दौड़ने से पतंग को कैसे पाओगे? अरे, सीधा सादा रास्ता तो यह है कि तुम यदि मेरे हाथ की घिर्री को पकड़ लेते तो पतंग तुम्हारे हाथ आसानी से आ जाती। सही रास्ते पर चल मेरे भाई।'

ऋषि वाल्मिकी। जीवन के पूर्वार्ध काल में एक डाकू थे। घोर अपराधी थे। अविद्यारूपी कल्पनाओं, विचारों केआधीन वे इस प्रकार का जीवन जी रहे थे। परन्तु जब उन्हें सत्संगति मिली तब उनकी कल्पनाएं, विचारधारा उस, अदृष्य आत्मवस्तु से जा मिली तब वे ज्ञान की दालान में पहुँच गए। उनकी विचारधारा बदल गई। स्फुरित कल्पनाएँ परमात्मा के रूप में मिल गई और विवेक जागृत हुआ और उनके हाथों रामायण जैसा आदर्श और किसी भी काल में व मिटने वाला चिरन्तन ग्रंथ लिखा गया।

दूसरा उदाहरण संत तुलसीदास का है। अविद्यारूपी कल्पना के कारण वे गृहस्थी, पत्नी आदि को ही सब कुछ मानकर भ्रामक कल्पनाओं में जी रहे थे। पत्नी का विरह उनसे सहा न गया । तब सांप को रस्सी समझ कर दीवार पर चढ़ कर वे ससुराल में पत्नी के सम्मुख जा खड़े हुए। पत्नी ने उनकी इस अवस्था पर तरस खाते हुए कहा, 'यदि इतना अनुराग भगवान राम से रखोगे तो तर जाओंगे।' बस यहीं से उनके जीवन की दिशा ही बदल गई। दूसरी जीवन पद्धति की कल्पनाओं ने ज़ोर पकड़ा और अंत में उन्हें महान संत के पद पर ला रखा।

तात्पर्य:- मूलत: परमात्मास्वरूप दो अंगों से फलने फूलने वाली विवेक बुद्धि का उचित उपयोग किया जाय तथा अन्तर्मन की गहराई को समझ कर वह जीव ज्ञानी हो जाता है।

* * * * * *

जुड़ो आतमासे अहंकार जाये ।
सदा व्यापता सर्व आकाशभाये ।।
लखो बाह्य ही तो तमिस्त्रा बढ़ेगी ।
विवेकी बनो सद्य ही मुक्ति होगी ।। १७३ ।।

जिसे लोचनों से नहीं देख पाते ।
करे ग्रास माया नहीं रोक पाते ॥
क्षयातीत श्रीराम हैं मोक्षदाता ।
दयादक्ष स्वामी सुधी पक्ष लेता ॥ १७४ ॥

विश्व की उत्पत्ति ज्ञानमय यानी शाश्वत अर्थात् सद्‌वस्तुओं से हुई है परन्तु अहंकार भी साथ-साथ ऊपजा है इसलिये, भले ही जीवसृष्टि का सबसे उन्नत जीव मानव है फिर भी अन्तर्मन में बसे अज्ञान रूपी अंधियारे का वह उदाहरण है। अज्ञान का दृश्य अस्तित्व को ग्रहण माने तब उसका अंत भी निश्चित् है तथा ज्ञान ही सत्य है और इसीलिये वह शाश्वत है और इसी कारण वह सर्वश्रेष्ठ है। मनुष्य को विवेक से इस बात को समझना चाहिये और ज्ञान लेना चाहिये कि परमात्मस्थिति चर्मचक्षुओं से देखी नहीं जा सकती क्योंकि चर्मचक्षु, विनाश होने वाली देह का एक हिस्सा है। तब वे अविनाशी कैसे हो सकते हैं? ज्ञान चक्षुओं के माध्यम से उस परमात्मस्थिति के दर्शन होते हैं और तब दृश्य विश्व का अंत हो जाता है और तभी अविनाशी मोक्ष प्राप्त होता है।

तात्पर्यः- आत्मदर्शन अक्षय यानी अविनाशी है, निरंतर है और इसीलिये वह अविनाशी मोक्ष दायी है।

* * * * * *

लिखे नाभिजन्मा' सभी के कपारे ।
उसे कौन रेखा ललाटे चितारे ॥
करे सृष्टिसंहार कैलासवासी ।
परंतु दिखावे उसे कौन कासी ॥ १७५ ॥

(१) नाभिजन्मा = ब्रह्मदेव

बने द्वादशादित्य है रुद्र ग्यारा ।
असंख्यात देवेन्द्र की पंक्तिधारा ॥
बड़ी खोज कीन्ही कहीं भी दिखे ना ।
महामुख्य को है पताभी चलेना ॥ १७६ ॥

न टूटे न फूटे कभी, वे प्रभु है ।
झुके ना गिरे ना ढले ना विभू है ॥

नहीं देख पाते कभी लोचनों से
नहीं जानते हैं अहंता गुणों से ।। १७७ ।।

देवों की सभा में सर्वमत से महायज्ञ करने का निर्णय हुआ। पृथ्वी पर किसी निर्जन स्थान पर समस्त देवताओं की उपस्थिति में स्वयं इन्द्र ही इस महायज्ञ को करेंगे यह भी तय हो गया। यज्ञ की पूरी तैयारियां हो गईं। बहुत दिनों तक चलने वाले इस यज्ञ का शुभारंभ एक शुभ महुर्त पर हो गया। सारा वातावरण अत्यंत आनंदमय एवं मंगलमय था। यज्ञ शुरू हुए कुछ दिन बीते ही थे कि एक दिन कुछ खाली समय में इन्द्र ने उस परिसर में घूम कर आना चाहा। इन्द्र निकल पड़े। चलते चलते वे नदी के किनारे पर आए। वहाँ उन्हें एक अद्‌भुत दृष्य दिखाई दिया । नदी किनारे एक स्त्री मूक रुदन कर रही थी और उस का प्रत्येक अश्रु सुगंधित कमल बन कर नदी के पानी में तैर रहा था। उत्सुकतावश इन्द्र उस स्त्री के करीब जब पहुँचे तब उस स्त्री ने इशारे से इन्द्र को अपने पीछे पीछे आने को कहा। चलते चलते दोनों हिमालय के शिखर पर पहुँचे जहां एक जटाधारि साधु ध्यान में मग्न बैठे थे। वह स्त्री अत्यंत आदरयुक्त भावना से उस योगी के निकट सिर झुकाए खड़ी हो गई। इन्द्र भी वहां पहुँचा परन्तु उसके मन में यह भावना थी कि जब मैं महायज्ञ कर रहा हूँ, तब इस साधु ने स्वयं मुझे सम्मान देना चाहिये। इन्द्र चाहता था कि वह साधु 'अतिथि देवो भव' कहे परन्तु वह वैसे ही ध्यान मग्न बैठा रहा। इन्द्र को क्रोध आ गया और शाप देने हेतु उसने अपना हाथ ऊपर उठाया परन्तु वह हाथ जड़ हो कर हवा में अटक गया।

उस ध्यानस्थ साधु ने अपने नेत्र खोले और इन्द्र को देखा। जब दृष्टि से दृष्टि मिली उसी पल इन्द्र ने जाना कि वे शंकर भगवान है। अपनी गलती का इन्द्र को एहसास हो गया और यह भी विश्वास हो गया कि अहंकार की वजह से जो घटित हुआ है उसका दंड भी उसे अवश्य मिलेगा।

परन्तु बात कुछ और ही हुई। कोपाग्नि शिवशंकर शांत बने रहे और इन्द्र को अपने पीछे पीछे आने का संकेत किया। वे एक बर्फीली गुफा के पास पहुँचे। उस गुफा का दरवाजा खोलते हुए भगवान शंकर बोले, 'तुम पांचवे इन्द्र हो और अपने अहंकार की वजह से अब इस गुफा में बंद किये जा रहे हो। परन्तु बंद होने से पूर्व यहां जो दूसरी स्त्री खड़ी है, तुम उसके साथ जाओ।' इतना कह कर उस स्त्री की ओर भगवन शंकर ने अंगुलि निर्देश किया। इन्द्र उस स्त्री के साथ हो लिये। सुनहरे प्रकाश में खड़ी उस स्त्री ने अपनी अंगुलि से निर्देश किया और कहा, 'वहाँ सामने देखो।'

इन्द्र ने अपने सामने अतीव शुद्ध प्रकाश की चमकीली ज्योति देखी। ज्योति की तेजस्विता को इन्द्र सह न पाया और तुरंत उसने आँखें बंद कर लीं। कुछ समय पश्चात् इन्द्र

ने आँखें खोलीं तब सामने ज्योति नहीं थी। पास खड़ी स्त्री 'उमा' थी। इन्द्र के यह पूछने पर कि वह ज्योति क्या थी, उमा ने हंसते हुए कहा, 'वह ब्रह्म है।' इन्द्र, उमा के साथ भगवान शंकर के पास जब लौटा तब इन्द्र की खिल्ली उड़ाते हुए भगवान शंकर बोले, 'क्या तुम परमतत्व के दर्शन को सह नहीं पाए? घबरा कैसे गए?'

बात यहीं पर समाप्त न हुई। बेचारा इन्द्र तो शर्म से पानी-पानी हो गया था परन्तु भगवान शंकर उसे 'परमतत्व के सगुण रूप' के दर्शन कराने हेतु नारायण के पास ले आए। नारायण के पास आ कर शंकर बोले, 'यह पांचवां इन्द्र है।' नारायण इन्द्र को गहरी दृष्टि से देखा और भगवान शंकर से बोले, 'आप इसे यहां ले आए यह ठीक ही हुआ। इन दिनों पृथ्वी पर बड़ी अराजकता छायी हुई है। और उस अराजकता को समाप्त करने हेतु मैं द्वापरयुग में 'श्रीकृष्ण' बन कर वहां जन्म लूँगा तब इस पांचवे इन्द्र का मैं अच्छा उपयोग करूँगा। इन पांचों इन्द्रों के ललाट पर मैं पांडव लिख देता हूँ। अब इनका अहंकार गल गया है। साथ ही यह आँसू बहाने वाली स्त्री 'पांचाली' नाम से जानी जाएगी जो इन पांचों की धर्म पत्नी होगी।' यह कह कर नारायण तथा भगवान शंकर अन्तर्धान हो गए।

तात्पर्य:- देवों के देव महादेव का दर्शन चर्मचक्षुओं से नहीं हो सकता क्यों कि उसमें देहाहंकार है। कभी भी विनाश न होने वाले उस परम ईश्वर के दर्शन ज्ञान चक्षु से ही होंगे।

* * * * * *

जिसे भाव जैसा उसे पूजता है ।
परंतु न खोजे खरा ईश को है ।।
कई कोटि संख्या सुरों को बताते ।
जिसे श्रेष्ठ जो है उसी को मनाते ।। १७८ ।।

जहां से बनी सृष्टि त्रैलोक्य आया ।
नहीं है बताते नहीं कोइ पाया ।।
नहीं प्राप्त सीधा महागुप्त मानो ।
गुरू की कृपा से हि है प्राप्य जानो ।। १७९ ।।

समाज में 'ईश्वर' की इतनी सारी प्रतिमाएँ, प्रथाएं, धाराएं बिखरी पड़ी हैं जैसे सब ओर बेहिसाब फैलती है छूत की बीमारी। ईश्वर अथवा 'देव' क्या है इसे पहचानने के बजाय लोग लकीर के फकीर बन कर अंधश्रद्धाओं के आधीन हो ईश्वर का गुनगान करते हैं। अपना

भला बुरा क्या है यह समझाने के लिये जैसे माता अपने बालक को समय पड़ने पर पीट कर भी सिखाती है, ठीक वही भूमिका संत समर्थ रामदास की भी रही है। समुचे समाज को जागृत करने का कठिन कार्य वे करते रहे। अपने ज्ञानरूपी 'दासबोध' नामक ग्रंथ में वे कहते हैं -

देव मिट्टी के, देव पत्थर के ।
देव सोने के, देव चांदी के ।
देव कांसे के, देव पीतल के ।
देव तांबे के, देव चित्रों के ।। श्रीराम ।।

धरती पर देव नाना। अपार भीड़ देवों की। मुख्य देव समझ से परे। मति अघाई ।। श्रीराम ।। अपार उपासना के भेद। कितने कैसे करें विशद । अपने प्रिय (देव) की आस । जन करें ।। श्रीराम ।।

यदि उपर्युक्त वर्णन तक समस्या सीमित होती तब भी कोई बात न थी। परन्तु यहां तो होड़ ऐसी है कि हमारा देव उच्च है और आप का निम्न। इसी झगड़े में निष्ठा खो जाती है, झगड़े बढ़ जाते हैं और संतों द्वारा 'सूक्ष्म देव दर्शन' दुर्लभ हो जाता है। समर्थ रामदास ईश्वर का वर्णन यूं करते हैं -

न उसका आभास है न उसकी झलक है ।
कल्पांत में भी नहीं वह मिलेगा ।
सुकृत में वह, विश्वास में वह।
जहां मन लगे, उसका वास है ।। श्रीराम ।।
कल्पनाओं का घना जाल है
इच्छाओं वासनाओं का अंधकार है
अंतर मन में तरंगों की भीड़ है, वह कहां ।। श्रीराम ।।
जो कल्पनाओं के पार है
वही शाश्वत है
अंत नहीं अनंत है वह, उसे जानिये
जिसने सूक्ष्मगति को जाना
सहज अवनति से बच पाना
सद्‌गुरू के मिलते ही सद्‌गति तत्काल है ।। श्री राम ।।

जब मन कल्पना जाल में फंस जाता है तब उबारने हेतु गुरु की ही आवश्यकता होती

है। सद्‌गुरु पर विश्वास रख कर जब 'निःसंग की भेंट करनी होती है तब स्वयं भी 'निःसंग बनो' वाली भूमिका अपनानी होगी।

इस विषय में श्री रामकृष्ण परमहंसजी का अनुभव विशद् है- 'ल्यांगटा' उनके गुरु थे (ल्यांगटा यानी तोतापुरी महाराज) उन्हीं के अपने शब्दों में अनुभव कथा इस प्रकार से है -

उस दिन ल्यांगटा ने अपनी समस्त शक्ति मुझे दीक्षा देने में लगा दी। अपने समस्त अनुभवों, लब्ध साधनों एवं विविध प्रकार के सिद्धान्त वाक्यों के माध्यम से ल्यांगटा मुझे उपदेश देने लगे। मन को पूर्णतया 'निर्विकल्प' बना कर आत्मध्यान में लगाने तथा निमग्न होने की उसने मुझे आज्ञा दी। मैंने बहुत प्रयास किया परन्तु 'निर्विकल्प' होने में तथा नामरूप की सीमा को पार करने में मेरा मन असफल रहा। अन्य सभी विषयों की कल्पनाओं से मैंने पार पाया। परन्तु माता जगदंबा की छवि मेरे अंतर्मन में बसी थी वही बार-बार उभर कर आँखों के सामने आने लगी और नाम, रूप के त्याग का मुझे विस्मरण होने लगा। ध्यान धारणा हेतु मैं आँखे बंद कर लेता, मन भी निर्विषय हो जाता परन्तु माता का रूप दृष्टि से ओझल होने को तैयार नहीं।

ऐसा करते करते तीन दिन बीत गए। निर्विकल्प समाधी के प्रति मैं निराश हो गया। आँखे खेल कर ल्यांगटा से कहा, 'मन पूर्णतया निर्विकल्प नहीं हो पा रहा। क्या करूँ?' यह सुनकर ल्यांगटा क्रोधित हुआ। उसने एक कांच का टुकड़ा लिया और उस की तीखी नोक मेरी दोनों भौहों के ठीक बीच चुभो कर बोला, 'इस जगह पर मन एकाग्र करो।'

मैंने दृढ़तापूर्वक निश्चय किया। आँखें बंद करते ही माता की मूर्ति मानस पटल पर उजागर हुई। ज्ञानरूपी तलवार से मैंने उस मूर्ति को भंग कर दिया, और उसी पल मन में कोई आशंका न रही, मेरा मन नामरूपात्मकता से परे पहुँच गया और समाधी में मग्न हो गया।

तात्पर्यः- कल्पनाओं के परे बसा 'महादेव गुरु' के बिना नहीं मिल पाता।

✸ ✸ ✸ ✸ ✸ ✸

गुरु तो गुरु क्या हजारों भरे है ।
बने सिद्ध मंत्रादि जादू करे हैं ।।
लिये दक्षिणा भूत को है भगाता ।
गुरू व्यर्थ के वे नहीं मुक्तिदाता ।। १८० ।।

करे टोटके भूत को भी भगावे ।
महाधूर्त है मत्सरी द्रव्य पावे ।।

चढ़ाता अफू भंग ना संत जानो ।
महाज्ञान संपन्न ही संत मानो ॥ १८१ ॥

मन कहता है कि भवसागर पार करने के लिये मार्गदर्शन तो परम आवश्यक है परन्तु 'गुरुबिनु कौन राह दिखावै।' सरोज एवं सतीष दंपति रूप संपन्न, अर्थसंपन्न यानी सर्वसंपन्न थे। भगवान का दिया सब कुछ था, बस एक ही बात की कमी थी। दोनों को माता-पिता बनने का सौभाग्य प्राप्त न हुआ था। बहुत वर्षों तक प्रतीक्षा करने के पश्चात् सरोज के मन में उसी गांव में आए साधु महाराज की शरण में जाने की टानी। सतीश की मर्जी न होते हुए भी वह वहां गई।

महाराज उसे भस्म देते। कभी-कभी कोई जड़ी बूटी भी देते और उसे प्रतिदिन उसका सेवन करने को कहते। साथ साथ वे अपनी सेवा भी करवाते। उसे आस दिलाते कि वह जल्दी ही मां बनेगी। समय बीतता गया। सरोज ने आज तक महाराज के चरणों में ढेर सारा रुपया, सोना, चांदी आदि ला कर रख दिया था। डॉक्टरी इलाज तो जैसे उस ने बंद ही कर दिया था। महाराज पर उसे पूरा विश्वास था।

कुछ समय पश्चात् उस गांव में दूसरे साधु बाबा पधारे। किसी ने सरोज को यकीन दिलाया कि इनके पास अकसीर इलाज हैं तुम्हारी समस्या का। अब सरोज श्रद्धापूर्वक दूसरे साधु के पास जाने लगी। जब पहले साधु की आय अथवा आर्थिक लाभ बंद हो गया तब वे बहुत क्रोधित हुए और दोनों साधुओं में जम कर लड़ाई झगड़ा हो गया। सरलमना सरोज की समझ में जब उन दोनों की दाम्भिकता एवं फरेब आया, तब उसके मन को गहरी ठेस पहुँची। वह मानसिक तौर पर बहुत बीमार हो गई। जो लोग रूपया, शोहरत, ऐशो आराम पाने के लिये साधु का चोला ओढ़ लेते हैं और लोगों को ठगते हैं, ऐसे साधुओं से सभी को सावधान रहना चाहिये। खुद भी न जाना चाहिये एवं दूसरों को भी उनकी परछाँई से बचाना चाहिये। सदैव आत्मज्ञानी साधु की संगत करनी चाहिये।

तात्पर्य:- गुरु निश्चय तो अवश्य होना चाहिये परन्तु गुरु की योग्यता को परखना भी चाहिये।

* * * * * *

बड़ा बोलता है, छिपी कामना है ।
क्रियाशून्य पापी नहीं वो गुरु है ॥
यथा बोलता है तथा ही क्रिया है ।
बनो भक्त जानो वही सद्गुरु है ॥ १८२॥

महाभक्त ज्ञानी विवेकी विरागी ।
कृपालू दयालू क्षमावान योगी ॥
सदा दक्ष व्युत्पन्न चातुर्य ज्ञाता ।
जिसे देखते ही समाधान होता ॥ १८३ ॥

प्रत्यक्ष अनुभूति के बिना धर्म की कोई व्याख्या नहीं है। मात्र शब्दों का जंजाल, अज्ञानरूपी अंधियारे में इधर-उधर भटकना, पूर्वजों की बनाई रूढ़ियों पर आँख बंद कर अमल करना, धार्मिक सत्य को राजनीति में अपने फायदे के अनुसार उपयोग में लाना, धर्म कदापि नहीं कहलाता।

उपर्युक्त बातों के आधार पर 'धर्म' का प्रसार करने वाले लोग दूसरों का हर प्रकार से नुकसान ही करवाते रहते हैं। तोड़फोड़ आपसी मनमुटाव, समाज में लड़ाई झगड़ा बढ़वाना आदि कार्य ऐसे लोग करवाते रहते हैं। 'गुरु' उसे जानिये जो पल भर में अपने आप को हज़ारों के बीच बांट सकने की क्षमता, योग्यता रखता हो। मेरे परम गुरु ने मुझे यह सीख दी है कि मनुष्य इसी देहावस्था में ही सिद्धावस्था प्राप्त कर सकता है। मेरे गुरु के मुख से कभी भी शापवाणी नहीं निकली। समूचे जीवन में उन्होंने कभी किसी की बुराई तक न की। अशुभ विचारों से उनका मन सदैव बहुत दूर रहा। वे सदैव शुभ विचारों को ही प्रस्तुत करते। वेद कहते हैं -

'न धनेन, न प्रजया, त्यागेन एके अमृतत्त्वम् आनशुः।'

अर्थात धन अथवा पुत्र के द्वारा नहीं वरन मात्र त्याग के द्वारा ही मुक्ति निश्चित् जानिये। मेरे गुरु जब गहन निद्रा में होते तब यदि उन्हें धातु का स्पर्श हो जाता तो उनका शरीर संकुचित हो जाता। उनकी दूसरी विशेषता थी उनका विश्वप्रेम । वे कहते, 'जब तक मेरी जीभ में प्राण है, कंठ में आवाज़ है, मैं मार्गदर्शन का कार्य करता रहूँगा।' मार्गदर्शन करते समय उनका कंठ घातक ज़ख्मों से भर जाता। उनकी अपार कृपा से मैं इतना ही कह सकता हूँ, -

'इस धरती पर मैं जहां कहीं भी सत्य एवं धर्म को ले कर कुछ कहता हूँ, वह प्रत्येक शब्द मेरे गुरु का है। सिर्फ गलतियाँ मेरी अपनी हैं।'

उपर्युक्त पंक्तियां स्वामी विवेकानंद लिखित पुस्तक 'मेरे गुरुदेव' से हैं।

अनंत जनमों के पुण्य से।
परमार्थ साधना होती है ॥

सद्गुरु नामक शब्द की शक्ति का वर्णन मन-बुद्धि तथा वाणी से परे है। इस शब्द के अन्तर्मन में पैदा होते ही शरीर की रक्त वाहिनियाँ मानो पावन निर्झर बन जाते हैं। जड़

धरती भी पावन हो जाती है। वैराग्य का तेज अग्नि से बढ़कर होता है। शांत बहता पवन वासनारूपी द्रोणागिरी को सहज उड़ा ले जाता है और तब अवकाशशून्य आत्मतत्त्व, ब्रह्मरंध्रों तथा ब्रह्मांड को भेद कर परब्रह्म में सहज विलीन होने के लिये उत्सुक रहता है। उस परमतत्त्व से एक रूप होने के प्रयत्नों में निरंतर लगे जीव का 'सद्गुरु' की उपस्थिति में स्वागत होता है। वहां वह जीव मजबूत बनता है और 'उस' के प्रेम की वर्षा में उसे चलना सिखाया जाता है। यदि जीव कहीं गिर जाता है अथवा उसे चोट पहुँचती है तब दुर्बल माया के स्पर्श के बजाय हलकासा परन्तु शक्तिमान स्पर्श होता है। उस स्पर्श को जानने की क्षमता होनी चाहिये और 'स्वधर्म' से उस स्पर्श की अनुभूति लेनी चाहिये। साथ-साथ विवेक वैराग्य के उचित समन्वय से जीवन जीना होता है। श्रद्धा कमजोर न पड़नी चाहिये। ऐसा करने से पार्थिव शरीर का भार अपने आप हलका हो जाता है और जीव चिरंतन यात्रा से सच्चिदानंद हो जाता है। तब मधुर भावों का प्रकट होना निश्चित् है।

यह दृश्य दिखाया है जिसने
वह है गुरुदेव की पूर्ण कृपा ।

तात्पर्य:- जो आत्मज्ञानी नहीं है वह गुरुपद के योग्य नहीं है। जो आत्मज्ञान विशद करता है और उसी के अनुरूप आचरण करता है ऐसे गुरु की खोज होनी चाहिये।

* * * * * *

न था वो बनाया, महाभाग्य पाया ।
कृपा सज्जनों की नया बोध आया ॥
नहीं वाच्य जो है बतावे उसी को ।
वही भक्त जानो कहो संतता को ॥ १८४ ॥

मिलाओ स्वयं को प्रभू रामजी में ।
भयातीत निश्चीत पाओ स्वयं में ॥
यहां पे वहां पे नहीं दीखता है ।
दिखे एक कैसे जहां भिन्नता है? ॥ १८५ ॥

सदा सर्वदा रामजी पास ही है ।
अरे चित्त मेरे निरा सत्य ये है ॥
मिलो ईश से भेंट तत्काल पाओ ।
अहंकार त्यागो बने दास जीओ ॥ १८६ ॥

वास्तव में परमतत्त्व को लेकर कुछ कहना गलत है क्योंकि उसे तो प्रत्येक को स्वयं अनुभव करना है। परन्तु हमारे संतगण सामान्य जन हेतु उसके विषय में विशद करते रहते हैं -

'यदि मनुष्य ने अपने आप को समझ लिया है अथवा पहचान लिया है तब वह ईश्वर को निश्चित् ही पहचान सकेगा। 'मैं कौन हूँ ?' का कोई जवाब नहीं है । हाथ, पैर, रक्त मांस, हड्डियां आदि शरीर की वस्तुएँ हैं परन्तु वह मैं नहीं हूँ। प्याज की परतों की तरह। छीलते छीलते अंत में परतों के अलावा कुछ हाथ नहीं आता ठीक वैसे ही अन्त में 'मैं' नहीं रह जाता। बचती है मात्र चेतना रूपी आत्मा। 'मैं पन' के गलते ही ईश्वर दर्शन होता है।

- रामकृष्ण परमहंस

एक दिन श्री रामकृष्ण परमहंस ने तैलंगस्वामीजी से पूछा, 'जब ईश्वर एक है तब लोग उसे अलग-अलग क्यों मानते हैं?' स्वामीजी कुछ समय मौन रहे और आकाश की ओर उंगली उठाते हुए बोले, 'ध्यान की अवस्था में वह मात्र 'एक ही है', का अनुभव होता है। परन्तु 'उस' के प्रति तर्क एवं विचार जब किया जाता है तब बहुत्वबुद्धि का अनुभव होता है। रामकृष्ण परमहंस कहते हैं-

जब तक भगवान वहाँ (यानी हृदय के बाहर) है तब तक अज्ञान है और जब वह यहां (यानी अन्तर्मन में) है तब ज्ञान है। और जिसे भगवान के 'यहां' होने का अनुभव है उसे भगवान के 'वहां' भी दर्शन देते हैं। इस प्रकार से भगवान 'एकमेवाद्वितीयं' सदैव हमारे समीप हैं।

तात्पर्यः- परमतत्त्व को वाणीद्वारा नहीं जाना जा सकता फिर भी योग्य ज्ञानी साधु-संत अपनी वाणी से 'उस' का अनुभव करवाते हैं। निःस्संग हो कर डर तथा चिंता को पार कर 'आत्मरूप' का अनुभव करें।

* * * * * *

महाभूत में पिंड ब्रह्माण्ड भी है ।
उसी से निराला स्वयं रूप जो है ॥
लखो वस्तुएं सर्व जो देख पाओ, ।
निरासक्त हो सौख्य में मग्न होओ ॥ १८७ ॥

कीचड़ में ऊगा कमलपत्र और उस पर सुशोभित चमकदार ओस बिन्दु। ये तीनों वस्तुएं वास्तव में पानी से संबंधित है परन्तु कमलपत्र कीचड़ तथा चमकदार ओसबिन्दु से अलिप्त है। ठीक इसी तरह पंचभौतिक विश्व आँखों से दिखाई देता है परन्तु शाश्वत परब्रह्म में इनका

कोई अस्तित्व नहीं है। इसीलिये मन के अनुभवों को मात्र साक्षीभाव से देखना चाहिये क्यों कि स्वानंद का उपभोग संगरहित होना चाहिये।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस कहते हैं कि यदि पैर में जूता है तो मनुष्य कांटों भरी राह से भी आसानी से गुज़र जाएगा। ठीक उसी तरह तत्वज्ञानरूपी कवच धारण करके इस कांटों से भरे संसार में मुक्त विहार किया जा सकता है।

तात्पर्य:- मन के अनुभवों की ओर साक्षी भाव से देखें और मन में बसे स्वानंद का नि:संगता से उपभोग करें।

✹ ✹ ✹ ✹ ✹ ✹

चला ज्ञान का खड्ग मारो अहंता ।
विदेही बनो भक्ति से जोड़ नाता ।।
विरक्ती भरो निंद्य को छोड़ देओ ।
निरासक्त हो सौख्य में मग्न होओ ।। १८८ ।।

भगवान रामकृष्ण कहते हैं -

'जहाज किसी भी दिशा में जा रहा होता तब भी कुतुबनुमा की सुई तो उत्तर दिशा ही दिखाती है ताकि मार्ग भटक न जाये। इसी प्रकार से यदि मनुष्य का मन ईश्वर की ओर लगा रहे तब जीवन में भटकने का भय नहीं रह जाता। देहबुद्धि के नष्ट करने के लिये भावात्मक वृत्ति दृढ़रखनी चाहिये। जिस प्रकार से किसी पेड़ के नीचे खड़े होकर ज़ोर से एक ताली वजा दी तब वृक्ष पर बैठे सारे पखेरू उसी पल उड़ जाते हैं। ठीक इसी तरह ताली बजाकर हरिनाम लिया जाये तब शरीररूपी वृक्ष से अविद्यारूपी पखेरू उड़ जाएंगे।'

तात्पर्य:- मैं मात्र 'आत्मा' हूँ, इस विचार को दृढ़ रख कर देह की आसक्ति को कम किया जा सकता है। अनासक्त हो कर स्वानंद का उपभोग किया जाना चाहिए।

✹ ✹ ✹ ✹ ✹ ✹

मही निर्मिता को ? उसे ठीक जानो ।
उसे देखते ही मिला मोक्ष मानो ।।
गुणी को भजो निर्गुणी ईश पाओ ।
निरासक्त हो सौख्य में मग्न होओ ।। १८९ ।।

मुख से 'नारायण नारायण' का जाप करते हुए एक बार नारदमुनि हिमालय में घूम रहे थे। एक गुफा में उन्हें दो साधु तपश्चर्या करते दिखाई दिये। नारदजी ने पूछा, 'किसलिये

यह घोर तपस्या?' तिस पर उन दोनों ने कहा कि वे ईश्वर का दर्शन चाहते हैं, अत: तपश्चर्या कर रहे हैं। उन्होंने यह भी पूछा, 'हे मुनिवर, क्या हमें उसके दर्शन होंगे?' नारदमुनि बोले, 'क्यों नहीं? अवश्य होंगे।' इतना कह कर मुनिजी वहां से चल दिये।

एक वर्ष पश्चात् नारद जी फिर उस जगह पर आए और दोनों साधुओं को निराश अवस्था में पाया। दोनों में से एक ने प्रश्न किया, 'हे मुनिवर, मुझे ईश्वर के दर्शन कब होंगे?' नारद ने जवाब दिया, 'इस पहाड़ की तलहटी में जितने पेड़ हैं उतने जन्मों के बाद तुम्हें ईश्वर के दर्शन होंगे।' वह साधु यह सुनकर और अधिक निराश हो गया। नारद आगे बोले, 'सत्य तो यह है ईश्वर निर्गुण है परन्तु उसे त्रिगुण संसार में खोजो।'

दूसरे साधु के इसी प्रश्न के जवाब में नारद बोले, 'देखो, तर्क-कुतर्क करने से क्या लाभ? उस घने पेड़ पर जितने पत्ते हैं, उतने जन्मों के बाद तुम्हें ईश्वर दर्शन होगा। परन्तु उसके लिये तुम्हें श्रद्धापूर्वक साधना करनी होगी। सत्य तो यह है कि ईश्वर भले ही त्रिगुण के परे है फिर भी वह त्रिगुणात्मक रूप में त्रिगुण में भी अवश्य हैं।' नारदजी की बात सुनकर वह श्रद्धावान साधु खुशी से झूम उठा, इस विश्वास के साथ कि ईश्वर अवश्य है और मेरी श्रद्धा के बल पर उसके एक दिन दर्शन अवश्य होंगे। उसके इस विश्वास एवं प्रसन्नता के बल पर वह साधु तत्काल मुक्त हो गया।

तात्पर्य:- व्यर्थ तर्क से क्या लाभ? सरल मन तथा पूरी श्रद्धा से उसकी प्रार्थना करो, वह अवश्य मिलेगा।

✹ ✹ ✹ ✹ ✹ ✹

नहीं कर्मकर्ता न भर्ता न हर्ता ।
न देता न लेता न आता न जाता ॥
करो कल्पना निर्विकल्पत्व भाओ ।
निरासक्त हो सौख्य में डूब जाओ ॥ १९० ॥

महाद्वार लांघ दर्शन करिये।
दृश्य को भुलाईये। ज्ञान से ॥ श्रीराम ॥

मंदिर के महाद्वार को पार करने पर ही मूर्ति के दर्शन होते हैं ठीक उसी प्रकार दृश्य रूपी विश्व, मानवी कल्पनाओं की देहरी को लांघ कर मात्र 'उस' की कल्पना कीजिये तब इस सारे के परे स्वानंद की अनुभूति होगी । स्वानंद के उस महासागर में जी भर कर गोते लगाइये।

निर्विकल्प की कल्पना से।
कल्पना अणुमात्र नहीं रह जाती।
नि:संग से भेंट करते।
स्वयं नि:संग हो जाईये ।। श्रीराम ।।

परमात्मा, कार्यकारण से परे है और मनुष्य की ही बनाई हुई यह कल्पना है कि 'वह सारे विश्व को चलाता है' इसलिये कल्पनाओं के पार जा कर उस परमात्मा के दर्शन करिये।

करे देहभक्ति नहीं छोड़ पाता ।
नहीं ज्ञान का लेश वो जोड़ पाता ।।
परब्रह्म को त्याग मैं मैं करूँगा ।
उसे शून्य अज्ञान ही तो मिलेगा ।। १९१ ।।

परमपूज्य रमण महर्षि के आश्रम में उन की माता भी रहती थीं। इस महान् योगी की माता होने की वजह से उन में अहंभाव पनप रहा था। अहंभाव इतना बढ़ गया कि रमण महर्षि ने अपनी माता के साथ बोलचाल बंद कर दी।

एक दिन माताजी पापड़ बेल रही थीं तब वहाँ एक योगी जी पधारे। अपमान से व्यथित माता ने आँखों में आंसू भर कर उन्हें यह बिनती की कि वे उसके अहंभाव को हर लें। योगीजी ने उन्हें एक छन्द सुनाया जिसका मथितार्थ निम्न है -

'मन जो है वह पंचकोश देह में पला अहंकार है। वहीं जीव है। परन्तु जीव का अर्थ देह नहीं है। उस अहंकार को ज्ञान रूप चक्की में पीस डालो। सत्संगति करके सत्विचारों की हींग उस में डालकर उसे खूब कड्डा सानो। अन्तर्मन के मूसल से उसे कूट कर हलका बनाओ। आनंद से पापड़ बेलो और मौन मुद्रा की कड़ाही में, ब्रह्मरूपी घी में, ज्ञानरूपी तेज आंच पर पकाइये। उसे तत्त्वमसी होने तक प्रतिदिन तोलो और तन्मयतापूर्वक उस का साथ करो।' माता ने जब इस उपदेश को सुना, उसी समय वे ममता बंधन तोड़ कर बैरागी हो गई।

✹ ✹ ✹ ✹ ✹ ✹

महारूप दिक्काल में एक होगा ।
न जो द्वैत राखे उसे ही दिखेगा ।।
उसे सर्वदृष्टान्त आधे अधूरे ।
उसे संग नि:संग भी है अपूरे ।। १९२ ।।

मनुष्य को बुद्धि अवश्य है परन्तु परमात्म का स्वंरूप समझने के लिये उसे भी त्यागना पड़ता है।

समर्थ कहते हैं -

अति सूक्ष्म मन में, न दिखाई देने वाली अतिसूक्ष्म वासनाएं होती हैं। उनसे भी सूक्ष्म रूप है परमतत्त्व का जिसे मात्र शरणागति से ही पाया अथवा देखा जा सकता है। 'यदि सब कुछ छोड़कर मेरे पास आओगे तभी मैं तुम्हें अपनाऊँगा और मेरे विराट दर्शन करवाऊँगा।' ऐसा स्वयं भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में अपने प्रिय अर्जुन से कहा है। और भगवान की आज्ञा मान कर अर्जुन जब नि:संग हुआ तभी उसे दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई। अर्जुन ने देखा -

असंख्य मुखों तथा नयनों वाला विराट दर्शन। शस्त्रास्त्र, फूल मालाएं तथा दिव्य वस्त्र उसने देखे। सुगंधित पदार्थों का लेपन था। और इस सारे से बढ़ कर उस विराट रूप की विशालता को अर्जुन ने देखा।

मानव बुद्धि, मन इससे परे यदि सूक्ष्म का ध्यान करे तब ही उस सूक्ष्म रूप को मानव पहचान पाएगा।

तात्पर्यः- मन, बुद्धि, अहंकार आदि को मिटा कर अभिन्न रूप का ध्यान करने से परमतत्त्व समझ में आएगा।

✹ ✹ ✹ ✹ ✹ ✹

अरे ज्ञान अज्ञान से जो परे है ।
जिसे नेति नेती श्रुती मानती है ॥
कहीं दृश्य अदृश्य साक्षी नहीं है ।
श्रुती भी न आद्यंत को जानती है ॥ १९३ ॥

मुमुक्षू कभी पूछता प्रश्न ऐसे ।
उरों में बसे ईश है कौन कैसे? ॥
छुटे देह तो आतमा क्या करेगा? ।
कहां जायगा वो कहां पे रहेगा ॥ १९४ ॥

उरों में बसे ईश को जान ऐसा ।
अरे विश्व में व्याप्त आकाश जैसा ॥
न आता न जाता सदा ही बसा है ।
बिना ईश के स्थान कोई नहीं है ॥ १९५ ॥

यहा भी वहां भी भरा व्योम जो है ।
उसी भांति सर्वत्र श्रीराम जी है ॥
उन्हें देखते देख तद्रूप होओ ।
कहीं दृश्य अदृश्य वस्तू न पाओ ॥ १९६ ॥

'एकोऽहम् बहुस्याम्' इसी अहंकार में से ईश्वर ने मूलमाया का निर्माण किया है। मूल माया चौदह नामों से सजी संवरी। फिर पंचमहाभूतों का निर्माण हुआ जिसमें से चार बातें उभर कर आईं-

१) सुनिश्चित् परब्रह्म।

२) मूलमाया।

३) पंचमहाभूत।

४) (१) अंडज (२) जारज (३) स्वेदज (४) उद्भिज

और इसके फलस्वरूप असंख्य अनंत प्राणी।

अनेक जन्मों के पश्चात् नरदेह प्राप्त होता है 'जारज' के माध्यम से बहुत कम लोग ऐसे होते हैं जो अपनी बुद्धि का उपयोग विवेक से कर, उत्सुकता से सत्य की खोज करते हैं। मलूतत्व तक पहुँचने वाले बिरले ही होते हैं। ऐसे बिरलों मेंएक नाम है पूज्य 'रमण महर्षि'।

बचपन से उनके दिमाग में कई प्रश्न उपजते थे। जैसे, मरने के बाद मनुष्य कहां जाता है ? ईश्वर हृदय में वास करते हैं का मतलब क्या है ?

इन्हीं प्रश्नों की खोज में बचपन में एक दिन रमण अपने कमरे में मृतवत लेटे रहे। अर्थात् उन्होंने सांस भी रोक रखी थी। इस प्रयोग से उन्हें इस बात का अनुभव हुआ कि सांस, देह तथा मृतदेह का निकट का संबंध है। सत्य की खोज में बालक रमण स्वयं ही प्रश्न उपस्थित करते और स्वयं ही उस का हल खोजने के (सफल) प्रयास में लग जाते। सत्य की खोज हेतु अविरत साधना करने के लिये जिस तरह 'रमण' बचपन में घर से निकल गए थे ठीक वही बात 'श्री समर्थ रामदास' की भी है।

शास्त्र अनुभव , गुरु अनुभव पर विश्वास रख कर प्रत्येक का आत्मानुभव करना उचित है। क्योंकि परमात्मा रूप, मन तथा वाणी के परे हैं इसलिये 'उस' का वर्णन शब्दों में किस तरह किया जा सकेगा ?

परमस्वरूप में अज्ञान-ज्ञान, वेदशास्त्र, दृश्यादृश्य आदि का साक्षीभाव नहीं होता। साधना करते करते अभिन्नता यानी अद्वैतभाव प्राप्त हो जाता है। परन्तु इस अवस्था को प्राप्त करने के लिये, गुरू चरणों में निष्ठा रहे, गुरु पर अपना भार डालकर मन निश्चित् रहे, साधना

अखंड रहे, जागृति की पहचान रहे, मन, विषय कामनाओं से योजनों दूर रहे। मनुष्य जन्म का सार्थक शुद्ध ज्ञान प्राप्त करने में है।

पहले अज्ञान और फिर ज्ञान, इसी के द्वारा सच्चिदानंद की प्राप्ति होगी यानी ज्ञान और अज्ञान के पार वाली अवस्था- जैसे पैर में कांटा चुभ गया है उसे दूसरे कांटे की सहायता से निकाले और चुभा कांटा बाहर निकल आने पर दोनों कांटों को फैंक दे, ठीक वैसे ही भगवान सब के अन्तर्याम में विराजमान हैं। जिस प्रकार से कुलीन घर की महिलाएं चिक के पर्दे के पीछे रहती हैं। वे सभी को देख सकती हैं पर उन्हें कोई नहीं देख सकता, ठीक इसी प्रकार भगवान भी प्रत्येक के हृदय में वास करते हैं। बृहस्पति पुत्र कच जब अपनी समाधी से बाहर बाह्य विश्व में आए तब गुरुदेव ने उनसे प्रश्न पूछा, 'इस समय क्या अनुभव हो रहा है?' जवाब मिला, 'सब कुछ ब्रह्ममय'। यानी मात्र एक ब्रह्म के अलावा और कुछ नहीं।

-भगवान रामकृष्ण परमहंस

तात्पर्य:- हृदय में बसे ईश्वर सर्वव्यापी हैं। उन्हें देखने वाला उसी में एकाकार हो जाता है।

* * * * * *

रहे स्वस्वरूपी रघूनाथ चिंता ।
हरेंगे समूलाग्र संसार चिंता ।।
उन्हें देखते ही न हो देहबुद्धी ।
सुखानंदकारी करे भक्तिवृद्धि ।। १९७ ।।

अहा व्योम है सर्वब्रह्माण्ड व्यापी ।
नहीं तुल्य है राम दीर्घ प्रतापी ।।
नहीं द्वैत वा द्वंद्व वो एक ही हैं ।
नहीं व्याप्त या व्यापता दो कहीं हैं ।। १९८ ।।

जीर्ण विस्तीर्ण रूप है 'उस का '
तर्क-वितर्क कदापि ने उसका ।
गुरु रहते वह स्थिर सुलभ है

पुराने पुराने महाश्रेष्ठ जो है ।
प्रभू राम जी तर्क से भी परे है ।।
महागूढ दुर्बोध भी प्राप्य भी है ।
सुनो एक ही नाम श्रीराम का है ।। १९९ ।।

स्वामी विवेकानन्द के अनुसार विचारों की शक्ति अद्‌भुत है। वे कहते हैं कि 'इसका भान बहुत की कम लोगों को है। यदि किसी ने अपने आप को एक गुफा में बंद कर लिया और एक महान विचार करते करते यदि वहीं पर प्राण त्याग दिये तो वह विचार उस गुफा की दीवारों को भेद कर समूचे आकाश में संचार करेगा और समस्त मानव जाति के हृदय में संक्रमित होगा।' अपने गुरु के प्रति वे कहते हैं -

'अहं ब्रह्मास्मि' के प्रत्यक्ष अनुभूति की आस में वे एक-दो नहीं वरन कितने ही दिनों तक लगातार साधाना ही करते रहे।

उपर्युक्त विचारों ने नरेंद्र के जीवन को अनोखी दिशा दी। इसके फलस्वरूप उसे ईश्वर के दर्शन हुए। अपने जीवन की तीन चौथाई आयु उन्होंने अविरत साधना में लगा दी और बचे हुए जीवन में उन्होंने मानव जाति को धर्मज्ञान रूपी धन बांटा। इस महान व्यक्ति की सहजभाव समाधी, परमात्मा के दर्शन सहज रूप से करवाती थी। परमात्मा असीम व्यापक है। अवकाश में सारा विश्व समाया है परन्तु आकाश सीमित है, शून्य है और अज्ञान मय हैं और परमतत्व तो असीम एवं ज्ञानमय है। उन ज्ञानमयी भंडार यानी ब्रह्म की मनुष्य थोड़ी सी कल्पना कर सके इसलिये सूर्य का दृष्टांत देते हुए समर्थ कहते हैं,

जहां जहां प्राणी देखे
चहुँ ओर उसे ही पाए ।
समस्तों के मस्तक पर वह
दोपहर के सूरज जैसा ॥

परब्रह्म अत्यंत पुरातन है और इसीलिये वह सुक्ष्मरूप में खरा सोना है। तर्कबुद्धि की समझ सहजरूप से उसके निकट नहीं पहुँच पाती। अत्यंत रहस्यमय, गुप्त, चहुँ ओर भरा हुआ परमतत्व, मात्र गुरु की कृपा से ही सहज सुलभ हो सकता है। महान संत विभूतियाँ जन साधारण के लिये उसे सुलभ बनाने के प्रयत्नों में सारा जीवन लगा देती है। प्रयास करती हैं। प्रेम से समझाती हैं। श्री समर्थ कहते हैं -

स्तवन ग्रंथ का करो,
स्तवन ग्रंथ का इसलिये करो
कि प्रत्यय (अनुभूति) आने दो
मात्र प्रत्यय से ॥

तात्पर्य:- एक परब्रह्म ही ऐसा है जहां विकारों को स्थान नहीं। यदि 'परब्रह्म' इस अवस्था में न मिले तो उसे निश्चित रूप से 'भ्रमरूप' जानना चाहिए।

प्रभू राम के रूप का ज्ञान पाओ ।
न साक्षित्व साक्षी स्वयं को भुलाओ ॥
बनो उन्मना शब्द भी नष्ट होंगे ।
जहां भी लखो राम ही राम होंगे ॥ २०० ॥

कहीं भी किसी में उन्हीं को लखोगे ।
नहीं चित्त में द्वैत को स्थान दोगे ॥
पुराने स्वयं से नई भेट होगी ।
विदेही बनो चित्त में शांति होगी ॥ २०१ ॥

मेरे परम पूज्य गुरु ने लगातार अनेक वर्षों तक साधना की। गुरु परम पूज्य रामकृष्ण परमहंस ने अपने आप ज्ञान अर्जित किया और अनुशासन में रहे। आत्मा न तो स्त्री लिंगी है और न ही वह पुरुष लिंगी। आत्मा इन दोनों से परे हैं। मेरे गुरु ने उसे स्त्रीलिंग में कई वर्षों तक माना और अनुभवों के पश्चात उनके मन से यह भ्रम सदा के लिये समाप्त हो गया। समाज जिन स्त्रियों को सदैव अपने से दूर रखता आया है, ऐसी स्त्रियों के सामने वे हाथ जोड़ कर नतमस्तक खड़े हो जाते। आंखों से अविरत अश्रु बहने लगते, बाह्य जगतका भान छूट जाता और फिर वे घुटनों पर बैठते और कहते, 'हे माता, एक रूप तुम्हारा यह है कि तुम सरे बाजार खड़ी हो और दूसरा रूप वह है कि तुम सारे विश्व की माता हो। तुम्हें मेरा सादर प्रणाम।' परमात्मा की भेंट हो जाने के फलस्वरूप उनके मन में अभेद्य, निर्दोष, निष्कलंक पवित्रता जागी थी तथा विरोधी भावों का लोप हो गया था।

- 'मेरे गुरुदेव' स्वामीजी की पुस्तक से

तात्पर्य:- माया का हिसाब हो गया
तत्वों का निर्णय हो गया
साध्य पश्चात् साधनों को बिसारिये ॥ श्रीराम ॥

* * * * * *

महाज्ञान भंडार प्राप्ती हुई है ।
करो साधना यत्नपूर्ती तभी है ॥
कथा को सुनोगे उसी में रमोगे ।
करो संत सत्संग तो धन्य होंगे ॥ २०२ ॥

तजो चित्त जो संग है हानिकारी ।
करो नित्य सत्संग जो लाभकारी ॥
उसी से महादु:ख भी भाग जाता ।
उसी से बिना कष्ट है सौख्य आता ॥ २०३ ॥

करो चित्त सत्संग जो बंध तोड़े ।
वही श्रेष्ठ जो मोक्ष तत्काल जोड़े ॥
अरे साधकों को सदा है सुहाता ।
इसी से सदा द्वैत संपूर्ण जाता ॥ २०४ ॥

जब पाप तथा पुण्य समान सतह पर आ जाते हैं तब जीव को नरदेह प्राप्त होता है। पाप-पुण्य की कल्पना देहबुद्धि पर निर्भर करती है। क्यों कि आत्मस्वरूप को स्थूल-सूक्ष्म, पाप-पुण्य, दृश्य-अदृश्य, मन, बुद्धि, अहंकार, कल्पना आदि किसी का न साथ होता है न आस। वह नि:संग है। नि:संग शब्द की अपनी परिसीमा है इसलिये आत्मस्वरूप उससे भी परे है।

नरदेह मिलने के पश्चात् यदि प्राप्त बुद्धि का मनुष्य समुचित उपयोग करे तो जन्म-मृत्यु के फेरों से मुक्त हो जाये। ऐसी मुक्ति के लिये उसे सत्संग की आवश्यकता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि मन, इन्द्रिय, बुद्धि अपना कार्य करते रहते हैं इसलिये भला तथा बुरा दोनों प्रकार के कार्य निरंतर होते रहते हैं। कर्म करते समय यदि सजगता से अतिसूक्ष्म स्तर पर, गहराई को जान कर अपनी गृहस्थी (निहित कार्य) ठीक तरह से मनुष्य करता रहे, धर्म तथा नीति का आचरण रहे, तभी उसे सत्संग की इच्छा होगी। मनुष्य का मन ऐसा है कि वह अपनी इच्छानुसार कार्य करने में तत्पर होता है। यदि सत्संग की इच्छा है तब प्रयत्न अवश्य है। इसीलिये महान संत सदा सत्संगति के आग्रही होते हैं। वेदों के माध्यम से शब्दों की सहायता से समूचा ज्ञान प्रकाश में अवश्य आया है फिर भी वेद 'परमवस्तु' के दर्शन करा नहीं सकते। यदि सत्संग होगा तब माया को उखाड़ने में समय न लगेगा। माया बहुत शक्तिमान है। परन्तु उसे सद्वस्तु से कोई लेना देना नहीं। माया से परे अनंत का मार्ग संत अवश्य दिखाते हैं। सत्संगत से जीव परमार्थ में लग जाता है और तब वह सच्चे, शाश्वत, निर्मल, विमल और परमब्रह्म का अनुभव कर संत हो जाता है।

सत्संगति का सर्वोत्तम उदाहरण है वाल्या शिकारी और डाकू जो आगे चल कर सत्संग के आधार पर भवसागर तर गए और अंत में महामुनि 'वाल्मिकी' बन गए।

श्री समर्थ रामदास बार बार इस बात को दोहराते हैं कि सत्संगति से जीवन को सार्थक बना लो।

तात्पर्यः- यदि मनुष्य आत्महित एवं स्वहित की इच्छा रखता है तो उसे सदैव सत्संगति का साथ करना होगा, साथ देना होगा।

✵ ✵ ✵ ✵ ✵ ✵

मनोबोध के श्लोक दोषोपहारी ।
तथा ज्ञान सामर्थ्य वैराग्यकारी ।।
बनोगे तपः साधनायुक्त योगी ।
कहे दास विश्वास से मुक्ति होगी ।। २०५ ।।

हमारे जैसे सामान्य जनों के हित के लिये, भवसागर को पार करने में सहायक 'मनोबोध', श्री समर्थ रामदास जैसे ब्रह्मज्ञानी ने लिख रखी है। यह हमारे लिये परमभाग्य की बात है।'मनोबोध' के पठन, चिंतन तथा मनन से मनुष्य निःसंदेह मुक्ति को भोग सकेगा।

इस सरल मार्ग पर चलते-चलते मन में जो भाव जागृत हुए हैं वे निम्न प्रकार से हैं-

विलीन हो सद्गुरु चरणों में
द्वैत की भावना निगल गई है
'दासबोध' तथा 'मनोबोध' पर
जो हृदय से भक्ति भाव, रखेंगे, पढ़ेंगे,
उसके भाग्य का उदय निश्चित जानिये।
विवेक से रहिये, अनुभव लीजिये
परमार्थ के परमराज्य के अधिकारी बनिये ।। श्रीराम ।।

।। जय जय रघुवीर समर्थ ।।

तमसो मा ज्योतिर्गमय

वन्दे मातरम्

वन्दे मातरम्

अर्चना प्रकाशन